बबूल की छाँव

बबूल की छाँव मध्य प्रदेश के युवक कथाकार 'शानी' की लोकप्रिय कहानियों का प्रथम संग्रह है। छोटे-छोटे ब्योरों और अनुभूतियों को सँजोकर शानी ने सरल, धुली-मँजी, प्रवहमान भाषा में ये कहानियाँ लिखी हैं, जो हिन्दी-कहानी को मध्य-प्रदेश के इस युवक कथाकार की अनूठी देन हैं।

बबूल की छाँव

शानी

नी ला भ प्र का श न
प्रयाग

प्रथम संस्करण १९५८

मूल्य : [illegible]

प्र का श क
नी ला भ प्र का श न
५, खुसरो बाग़ रोड, इलाहाबाद-१

मु द्र क
पियरलेस प्रिंटर्स,
२०५, न्यू बैरहना, इलाहाबाद

स्नेही अञ्चन और विनय के नाम

क्रम

निवेदन

सबसे पहले यहाँ की बात कहूँ, जहाँ से लिख रहा हूँ, जिस जगह मैं बना और जहाँ की मिट्टी ने मुझमें गन्ध भरी। मध्य-प्रदेश के रेलवे स्टेशन रायपुर से लगभग २०० मील के फ़ासले पर सुन्दर-[illegible]र पहाड़ियों, चित्र-शलभी-पंखों से सजी नशीली घाटियों और अंग में केवड़ई-गोराई बाँधे, दूध के उफ़ान-से उजले, तपस्वी-से साधक और एकनिष्ठ और ऋषि-कन्या के पाजेब की सुकुमार गूँज में मुखरित झरनों से घिरा एक छोटा-सा शहर जगदलपुर है। मध्य-प्रदेश का सबसे पिछड़ा, पर क्षेत्रफल और आबादी में सबसे बड़ा, ज़िला-बस्तर का हृदय जगदलपुर। प्रारम्भ से अभी तक अपने को यहीं पाकर मैं यह सोच नहीं पाया हूँ कि अपने को इस मोह के घेरे से छुड़ा न पाना, मेरा दुर्भाग्य है अथवा सौभाग्य ?

प्रायः हर पाठक का अपना एक प्रिय लेखक होता है। उस पर ही उसकी श्रद्धा-आस्था होती है और बहुत बार ऐसा भी होता है कि उसके व्यक्तित्व से प्रभावित होकर पाठक पक्षपात करने लगता है। हिन्दी के लब्ध-प्रतिष्ठित साहित्यकार श्रीयुत उपेन्द्रनाथ जी

अश्क को, उनका प्रसिद्ध उपन्यास 'गर्म-राख' पढ़ने के बाद, मैं भी उसी सीमा पर पहुँचकर देखने लगा था।

आज से लगभग एक वर्ष पूर्व जब मैं इस कहानी-संग्रह को लेकर इलाहाबाद गया तो मुझे जानने वाला कोई नहीं था। मेरी रचनाएँ वैसे तो सन् ५० से प्रकाशित होने लगी थीं, पर एक तो मैं कम लिखता हूँ और दूसरे साहित्य एवं जन-जागरण से दूर यहाँ बस्तर के घेरे में पड़ा हूँ, अतः किसी को मैं याद नहीं रहा।

अश्क जी से केवल पत्रों का सम्बन्ध था। इलाहाबाद आने के विषय में मैंने जब उन्हें लिखा तो उन्होंने जवाब दिया—

'आप इलाहाबाद ज़रूर आइए हालाँकि लेखकों को निकट से देखना अच्छा नहीं होता, प्रायः निराशा होती है। लेखक कई बार साधारण मनुष्य से भी बढ़कर खामियों का मालिक होता है। उसके व्यक्तित्व के कोने कुछ ज़्यादा बढ़े होते हैं और पाठक को निराशा होती है। फिर भी आपका स्वागत है, इलाहाबाद आइए तो ज़रूर दर्शन दीजिए।'

आज भी इलाहाबाद में बीते उन दस-पन्द्रह दिनों की याद करता हूँ और उन दिनों को तरसता हूँ। अश्क जी का इतना स्नेह पा गया हूँ कि उनके प्रति कृतज्ञता ज्ञापित करना अथवा आभार प्रकट करना कुछ वैसा लगता है जैसे किसी अपरिचित के प्रति शिष्टाचार निभाया जा रहा हो। ख्याति और प्रतिष्ठा पाकर भी यदि आज हिन्दी का लेखक नये और अपरिचित लेखकों के प्रति थोड़ी भी उदारता बरते तो बहुतों के भला होने के साथ-साथ साहित्य का भण्डार भी भर उठे। मुझ जैसे नये लेखक के प्रति अश्क जी की सरलता और उदारता, आभार में डुबो देने के लिए काफ़ी है। भूमिका में उन्होंने जो कुछ भी लिखा है, वह केवल

आपके जाँचने की चीज़ है। मेरा तो केवल इतना ही निवेदन है कि 'बबूल की छाँव' मेरी कुछ प्रकाशित और अप्रकाशित कहानियों का प्रथम संग्रह है। इन कहानियों के लिए मैं अधिक दूर नहीं गया हूँ, अपने आस-पास के वातावरण को ही चित्रित किया है, अतः मेरा श्रम आपसे वैसा दृष्टिकोण माँगता है

शानी

२ मई, १९५७

जगदलपुर,

बस्तर, मध्य प्रदेश।

भूमिका

किसी नये, अप्रसिद्ध अथवा अपरिचित लेखक की कहानी सामने पड़ जाय और उसे पढ़ने का अवकाश हो तो सबसे पहली बात जो पाठक की दृष्टि में महत्व रखती है वह यह है कि कहानी की पहली पंक्ति मन को आकर्षित करती है या नहीं।

मैंने अप्रसिद्ध और अपरिचित शब्दों का प्रयोग इसलिए किया कि पुराने, प्रसिद्ध और परिचित लेखकों के सिलसिले में यह बात उतना महत्व नहीं रखती। पहली पंक्ति छोड़ पहला पृष्ठ भी यदि हमारा ध्यान आकर्षित नहीं करता तो भी हम कई बार उनकी कहानियाँ पढ़ जाते हैं। लेकिन नये, अप्रसिद्ध अथवा अपरिचित लेखक की कहानी यदि पहली पंक्ति से ही हमारा ध्यान नहीं खींचती तो उसे पढ़ना हमारे लिए कठिन हो जाता है।

शानी मेरे लिए एकदम नये, अपरिचित और अप्रसिद्ध हैं, लेकिन मैं उनकी एक-दो नहीं, लगभग वे सभी कहानियाँ पढ़ गया हूँ जो इस पुस्तक में संग्रहीत हैं और यह उस वक्त जब मेरे पास समय का नितान्त अभाव है। यह भी कि इन्हें पढ़ते समय मुझे अपने

आपसे ज़बरदस्ती नहीं करनी पड़ी। मैं यह मान लेता हूँ कि संग्रह मैंने बड़े अनमने-भाव से उठाया था, लेकिन पहली ही कहानी जो मैंने पढ़ी, उसने मुझे ऐसा प्रभावित किया कि मैं शेष सभी कहानियाँ पढ़ गया। शानी की लेखन-शैली बड़ी मँजी हुई, टकसाली और प्रवाहमयी है—ऐसी जिसकी मैंने ज़रा भी कल्पना नहीं की थी। हिन्दी के युवा-लेखकों में केवल राजेन्द्र यादव और मोहन राकेश के यहाँ शैली का यह मँजाव और प्रवहमानता मिलती है। हिन्दी के अधिकांश लेखक अनजाने, अपरिचित, अनगढ़ और देहाती शब्दों के बाहुल्य से पाठकों को चौंकाने और आकर्षित करने का प्रयास करते हैं। देहाती शब्दों का प्रयोग कहानी में निषिद्ध है, ऐसी बात नहीं। उनका प्रयोग ज़रूर होना चाहिए, लेकिन प्रेमचन्द ने बहुत पहले इस सम्बन्ध में एक क़ैद लगा दी थी। उन्होंने लिखा था—'शब्द अँग्रेज़ी, फ़ारसी, अरबी या संस्कृत (भोजपुरी या मैथिली) किसी भी भाषा अथवा बोली का क्यों न हो, देखना यही ज़रूरी है कि उससे शैली का प्रवाह और विचारों का क्रम तो नहीं टूटता। जिन शब्दों के लिए हिन्दी में प्रचलित शब्द मौजूद हैं, प्रेमचन्द प्रायः उनका प्रयोग नहीं करते थे। इस पर भी उन्होंने कई देहाती शब्द और मुहावरे इस तरह चला दिये कि पता भी नहीं चला। दुर्भाग्य से हिन्दी के युवा-कथाकार इस तथ्य को नहीं समझे। दूसरों से अपने को विशिष्ट बनाने की चिन्ता में उन्होंने प्रचलित शब्दों की जगह भी बेतहाशा देहाती बोलियों के शब्दों का प्रयोग करना शुरू कर दिया। स्थिति यह है कि उनकी अच्छी कहानियाँ भी इन शब्दों की भरमार से इस तरह बोझिल हो उठी हैं कि उनके ठीक अर्थ जानने के लिए भोजपुर अथवा मिथिला के गाँवों का दौरा करना पड़ेगा। शानी की कहानियाँ इस दोष से एकदम पाक

हैं। निखरी-धुली, मँजी-सँवरी भाषा। देहाती शब्द यदि कहीं आये भी हैं तो उनके अर्थ जानने के लिए किसी देहाती-कोष की आवश्यकता नहीं पड़ती। वे अपना मतलब आप दे देते हैं और भाषा के प्रवाह को रोकने की बजाय बढ़ाते हैं।

लेकिन किसी कहानी की सफलता की कसौटी केवल शैली का प्रवाह और मँजाव ही नहीं। कृष्णचन्द्र शैली का सम्राट है, पर उसकी दसियों कहानियाँ ऐसी हैं, जिन्हें उस शैली के बल पर पढ़ तो लिया जा सकता है, लेकिन पढ़ने के बाद कई बार सख़्त कोफ़्त होती है। सफल कहानी के लिए प्रवाहमयी शैली के अतिरिक्त आधार-भूत विचार का समुचित व्यक्तिकरण, पात्रों का यथार्थ चरित्र-चित्रण और कहानी में निरूपित मनोवैज्ञानिक सत्य की उपलब्धि है। लेखक की आँख जितनी ही बारीक-बीन होगी, उसकी अनुभूतियाँ जितनी विस्तृत और गहरी होंगी, कहानी-कला पर (शैली के अतिरिक्त) जितना ही उसका अधिकार होगा, उतनी ही कहानी सफल उतरेगी।

शानी अभी युवक हैं, अनुभूतियाँ सँजो रहे हैं। आँखों को गहरे में पैठना सिखा रहे हैं। लेकिन इन कहानियों को देखते हुए जो बात अनायास सामने आती है, वह यह है कि वे पथ-भ्रष्ट नहीं, ठीक मार्ग पर अग्रसर हैं और चाहे उनकी कला में एकाध त्रुटि रह गयी हो, अपने पात्रों के चरित्र-चित्रण में इस युवावस्था में भी उन्होंने अभूतपूर्व सिद्धि प्राप्त कर ली है। कहानी 'बबूल की छाँव' में मिसेज़ सेन, 'पहाड़ और ढलान' में मिस माथुर और 'जनाज़े का फूल' में आयशा का चित्र अनायास ही मन पर अपनी छाप छोड़ जाता है।

छोटे-छोटे ब्योरों, बातों, भंगिमाओं को सँजोकर शानी ने

अपने पात्रों का चरित्र-चित्रण किया है और जहाँ वे रूमानी नहीं वहाँ वे हमारे जाने-पहचाने हो गये हैं। 'पहाड़ और ढलान' में चरित्र-चित्रण ही नहीं, कहानी-कला का भी उत्तम नमूना प्रस्तुत है। कहीं कोई ब्योरा ज़्यादा नहीं, सभी कुछ नपा-तुला है और मिस माथुर के अहं और ईर्ष्या को बड़े ही सुन्दर और संतुलित ढंग से कहानी में बयान किया गया है। कहानी का मनोवैज्ञानिक सत्य हृदय को इसलिए भी छूता है कि यह सार्वभौमिक है। मिस माथुर के अहं और ईर्ष्या कहीं-न-कहीं हम सबके अन्तर में मौजूद हैं।

शानी की कहानियाँ पाठकों का मनोरंजन करेंगी और यदि शानी लिखते रहे तो कहानी-लेखकों की प्रथम-पंक्ति में शीघ्र ही अपना स्थान बना लेंगे, इसमें सन्देह नहीं।

५, खुसरोबाग़ रोड,
इलाहाबाद।

उपेन्द्र नाथ अश्क
६ जुलाई, १९५६

बबूल की छाँव

जली हुई रस्सी

अपने बर्फ़ जैसे हाथों से वाहिद ने गर्दन से उलझा मफ़लर निकाला और सफ़िया की ओर फेंक दिया। पलक-भर वाहिद की ओर देखकर सफ़िया ने मफ़लर उठाया और उसे तह करती हुई धीमे स्वर में बोली, "क्या मीलाद में गये थे ?"

वाहिद ने बड़े ठण्डे ढंग से स्वीकृति-सूचक सिर हिलाया और पास की खूँटी में कोट टाँग खिड़की के पास आया। खिड़की के बाहर अँधेरा था, केवल सन्नाटे की ठण्डी सायँ-सायँ थी, जिसे लपेटे बर्फ़ीली हवा बह रही थी। किंचित सिहरकर वाहिद ने खिड़की के पल्ले लगा दिये और अपने बज उठते दाँतों को एक-दूसरे पर जमाकर बोला, "कितनी सर्दी है ! जिस्म बर्फ़ हुआ जा रहा है, चूल्हे में आग है क्या ?"

प्रश्न पर सफ़िया ने आश्चर्य से वाहिद की ओर देखा। बोली नहीं। चुपचाप खाट पर लेटे वाहिद के पास आयी, बैठी और उसके काँधे पर हाथ रखकर स्नेह-सिक्त स्वर में बोली, "मेरा बिस्तर गर्म है, वहाँ सो जाओ।"

वाहिद अपनी जगह लेटा रहा, कुछ बोला नहीं। थोड़ी देर के

बाद उठकर पास ही पड़ी पोटली खींची, उसकी गाँठें खोलीं और काग़ज़ की पुड़िया रूमाल से अलग कर बोला, "शीरनी है, लो, खाओ।"

"रहने दो," सफ़िया बोली, "सुबह खा लूँगी। क्या मीलाद में बहुत लोग थे ? किसके यहाँ थी ?"

"वकील साहब के यहाँ। एक तो ग्यारवीं शरीफ़ की मीलादें और दूसरे इतनी सर्दी।"

वाहिद ने रज़ाई गर्दन तक खींच ली। अनायास भर उठने वाली झुरझुरी से एक बार सिहरकर अपना जिस्म समेटा और एक कोने में हो रहा। बन्द किवाड़ों को धक्का मारकर अँधेरे और शीत में ठिठुरती हवा लौट गयी और किवाड़ों की दराज़ से सिमटकर हवा दोशीज़ा की नटखट छुअन की तरह गर्म रज़ाई में भी वाहिद को छूकर कँपा गयी।

पास वाले मकान से एक शोर उठ रहा था, एक बड़ी मीठी चहल-पहल, जिसमें पुरुष-स्त्रियों के स्वर और हँसी-मज़ाक के फ़ौव्वारे, देगों की उठा-पटक, पल्लियों और कफ़गीरों के टकराने और झनझनाने की आवाज़ों के साथ घुले-मिले थे।

सफ़िया ने कहा, "मुनीर साहब के यहाँ कल सुबह दावत है।"

वाहिद ने सुन-भर लिया और आँखें बन्द कर लीं।

मुनीर साहब वाहिद के घर के पास ही रहते थे। आज से कोई छै साल पहले मुनीर साहब किसी सेठ के यहाँ मुनीम थे, पर बाद में उन्होंने नौकरी छोड़ दी और गल्ले का व्यापार शुरू कर दिया। किस्मत अच्छी थी, अतः दो साल के अन्दर ही उन्होंने हज़ारों रुपये कमाये और अपना पुराना माटी का कच्चा मकान तुड़वाकर पक्का और बड़ा मकान बनवाया।

उस दावत की चर्चा वाहिद पिछले कई दिनों से सफ़िया से सुन

रहा था। मुनीर साहब की पत्नी ने, जो अक्सर वाहिद के यहाँ दोपहर में आ जाया करती थीं, दो सप्ताह पहले ही अपने यहाँ होने वाली दावत की घोषणा कर दी थी। जब कभी सफ़िया से भेंट हुई, थोड़ी इधर-उधर की चर्चा के पश्चात् बात ग्यारवीं शरीफ़ के महीने, मिलादों और दावतों पर पलट आयी और उसने बातों-ही-बातों में कई बार सुनाया कि उनके यहाँ की दावत में कितने मन का पुलाव, कितना ज़र्दा और कितने बकरे कटने को हैं और इतने दिन पहले ही उनके रिश्तेदार चावल-दाल चुनने-बीनने और दूसरे कामों के लिए आ गये हैं। इस ज़रूरत से ज़्यादा इन्तजाम करने के लिए उन्होंने सफ़ाई दी कि मीलाद, तीजा और किसी धार्मिक काम में चाहे लोग न आयँ, पर खाने की दावत हो, तो एक बुलाओ, तो चार आयँगे। जब मामूली दावतों का यह हाल होता है, तो फिर यह तो आम दावत है।

सफ़िया को बुरा न लगा हो, ऐसी बात नहीं, पर उसने कभी कुछ नहीं कहा।

वही दावत कल होने जा रही थी।

बड़ी देर से छा गयी चुप्पी को सहसा तोड़कर बड़े निराश स्वर में सफ़िया बोली, "मुनीर साहब की बीवी के पाँव तो ज़मीन पर ही नहीं पड़ते। इतनी उम्र हो गयी, फिर भी ज़ेवरों से लदी पीली-उजली दुल्हन बनी फिरती हैं। भला बहू-बेटियों के सामने बुढ़ियों का सिंगार क्या अच्छा लगता है?"

वाहिद ने करवट बदली और एक लम्बी साँस लेकर कहा, "जिसे ख़ुदा ने दिया है, वह क्यों न पहने? अपने-अपने नसीब हैं, सफ़िया।"

सफ़िया को सन्तोष नहीं हुआ। थोड़ी देर चुप रहकर बड़े भरे हुए स्वर में बोली, "एक अपने नसीब हैं! ख़ुदा जाने, तुम्हारे मुकदमे का फ़ैसला माटीमिला कब होगा!" और सफ़िया के भीतर से एक

बड़ी लम्बी और गहरी साँस निकली, जो सीधे वाहिद के कलेजे में उतर गयी।

*

वाहिद एक ढीला-ढाला, मझोले क़द का आदमी था। ग़रीबी और अभाव से उसका परिचय बचपन ही से था। बड़ी आर्थिक कठिनाइयों के बीच आठवीं तक की शिक्षा प्राप्त कर सका था। आठवीं के बाद किसी तरह कोशिश कर-कराके उसे फ़ारेस्ट-डिपार्टमेंट में फ़ारेस्ट गार्ड की नौकरी मिल गयी और आठ साल के भीतर ही वह डिप्टी रेंजर तक पहुँच गया। जंगल महकमे वालों को भला किस चीज़ की कमी। चार साल के अन्दर ही वाहिद के नाम पोस्ट-आफ़िस में डेढ़ हज़ार की रक़म जमा हो गयी, जिसमें से सात सौ उसके ब्याह में खर्च हुए। पर सफ़िया का भाग्य शायद अच्छा नहीं था। पूरे दो साल भी सुख से नहीं रह पायी थी कि वाहिद रिश्वत के आरोप में मुअत्तल कर दिया गया। वाहिद ने बहुत हाथ-पाँव मारे। पोस्ट-आफ़िस से तीन सौ और निकल गये। हेडक्लर्क की कई दावतें हुईं। रेंज-आफ़िसर साहब (जिनके सर्किल में वाहिद आता था और जिसने रिपोर्ट आगे बढ़ायी थी) के यहाँ उसने कई बार मिठाई, फलों की टोकरियाँ और शहर के भारी-भरकम आदमियों से ढेर सारी सिफ़ारिशें भिजवायीं और डी० एफ़० ओ० साहब की बीवी के पास (हालाँकि उसके पहले एक बार भी वहाँ जाने का अवसर नहीं आया था) सफ़िया को दो-तीन बार भेजा। पर हुआ कुछ भी नहीं। केस पुलीस को दे दिया गया और वाहिद पर मुकदमा चलने लगा।

पहले कुछ महीने तो वाहिद को काफ़ी सान्त्वनाएँ मिलीं कि केस में कोई दम नहीं, खारिज हो जायगा। यहाँ वाले ज़्यादती और अन्याय

करें, पर ऊपर तो सब की चिन्ता रखने वाला है और वाहिद के केस के साथ अकेले वाहिद का ही नहीं, दो और जनों का भाग्य जुड़ा है। अगर वाहिद दोषी भी है, तो वे लोग तो निर्दोष हैं, इत्यादि।

जब एक साल का अर्सा बीत जाने पर मुकद्दमा तय नहीं हुआ, पोस्ट-आफ़िस से पूरे पैसे निकल गये और सफ़िया के जिस्म पर एक भी ज़ेवर बाक़ी न रहा, तो वाहिद की हिम्मत टूट गयी और पहले जुमे के अलावा कभी भी मस्जिद की ओर रुख न करने वाला वाहिद पाँचों वक्त की नमाज़ पढ़ने लगा।

लगभग दो साल के बाद फ़ैसला हुआ और आशा के विपरीत, अच्छे-से-अच्छे वकील लगाने के बावजूद, वाहिद को साल-भर की सज़ा हो गयी।

वैसे तो अकस्मात् टूट पड़ने वाली मुसीबत पहाड़ से कम न थी, पर रिश्तेदारों और दोस्तों ने मिलकर हाईकोर्ट में अपील करने का किसी-न-किसी तरह प्रबन्ध कर दिया और पूरे डेढ़ बरस से वाहिद हाईकोर्ट के फ़ैसले का इन्तज़ार कर रहा है, भले उस प्रतीक्षा में एक जून के खाने के बाद दूसरे जून की चिन्ता की चिड़चिड़ाहट, सफ़िया की शिकायतें, दिन-प्रति दिन टूटता उसका स्वास्थ्य और उस दुर्दिन में माँ बनने के पहले की इहतियात, आवश्यक दवाई व देख-भाल की सारी समस्याएँ शामिल थीं।

*

मुनीर साहब के यहाँ से देगों में भारी कफ़गीरों के फेरने-टकराने का स्वर गूँजा, बड़े ज़ोर से छनन-छन् की आवाज़ हुई और फिर घी में पड़े ढेर-सारे मसालों की मीठी-सोंधी खुशबू फैल गयी।

घी अब वाहिद के लिए ख़्वाब है। जब तक लोअर कोर्ट से फ़ैसला

नहीं हुआ था, आफ़िस से मुअत्तली का एलाउंस मिल जाया करता था, उसका ही सहारा कम न था। पर अब कहीं का कोई आसरा नहीं। उन कड़ुवे दिनों को वाहिद और सफ़िया मिलकर झेल भी लें, लेकिन उस मासूम जान का क्या होगा, जो वाहिद के दुर्दिन में ही सफ़िया के भाग्य में आने को थी ? प्राविडेण्ट फ़ण्ड की जो भी थोड़ी-बहुत रक़म जमा थी और वापस मिलने को थी, उसके जाने के बहुत से रास्ते पहले से तैयार थे, अतः उसका क्या भरोसा ?

एक दिन झिझकती हुई सफ़िया बोली, "एक बात कहूँ !"

पल-भर के लिए वाहिद डर-सा गया, पता नहीं, सफ़िया कौन-सी बात कहेगी। तुरन्त जवाब देते नहीं बना। क्षण-भर उसकी ओर देखता रहा, फिर पास जाकर अपनी हथेलियों में उसका चेहरा बड़ी उदास आँखों से देखने लगा, "क्या कहती हो ?"

सफ़िया बोली, "प्राविडेण्ट फ़ण्ड के पैसे मिलेंगे, तो घी ला दोगे ? बहुत दिनों से अपने यहाँ पुलाव नहीं बना।"

वाहिद के भीतर जैसे किसी ने हाथ डालकर खँगाल दिया हो। अपने को किसी तरह संयत कर पहले वह धीरे-से मुस्कराया, फिर ज़रा ज़ोर से बनावटी हँसी हँसता हुआ बोला, "बस ?"

सफ़िया संकोच से लाल होकर मुस्कराती हुई वाहिद के सीने में छिप गयी।

वहाँ से हटकर वाहिद जब दूसरे कमरे में आया, तो निढाल-सा खाट में पड़ गया। भीतर से उफनती रुलाई का आवेग पलकों और ओंठों पर बिछल रहा था। मुँह पोंछने के बहाने रूमाल से उसने आँखें पोंछीं और अपने लरज़ रहे ओंठ दाँतों में भींच लिये।

उस बात को भी तीन माह हो गये। सफ़िया ने एक-दो बार अप्रत्यक्ष रूप से पूछने की कोशिश की और चुप रह गयी। उस रक़म

की वाहिद को आज भी प्रतीक्षा है।

वाहिद ने करवट बदली। मुनीर साहब के यहाँ का शोर थम गया था और इक्की-दुक्की आवाज़ें आ रही थीं। सफ़िया थककर सो गयी थी।

*

सर्दी की सुबह वाहिद के लिए आठ से पहले नहीं होती। पर उस दिन देर से सोने पर भी सुबह आँख जल्दी ही खुल गयी। वैसे काम होने या न होने पर भी वह चाय आदि से निबटकर नौ से पहले ही बाहर निकल जाता है, लेकिन उस दिन उसकी चाय दस बजे हुई।

बाहर मुनीर साहब के यहाँ भीड़ इकट्ठी हो रही थी। साइकिल और पाँवों की रौंद से उभड़-उभड़कर उठती धूल का बादल फैल-बिखर रहा था। और दिनों की तरह चाय देते समय आज सफ़िया ने न तो राशन के समाप्त होने की बात कही और न ही पूछा कि आज वाहिद कहाँ से क्या प्रबन्ध करेगा। पिछली रात भी कुछ नहीं था। सुबह का बच रहा थोड़ा खाना वाहिद और सफ़िया ने मिलकर खा लिया था। रात की मीलाद की शीरनी नाश्ते का काम दे गयी थी।

वाहिद ने पूछा, "क्यों, क्या मुनीर साहब के यहाँ से कोई आया था?"

सफ़िया ने थोड़ा झिझकते हुए जवाब दिया, "नहीं, हजाम आया था, आम दावत की खबर दे गया है।"

वाहिद ने और कुछ नहीं पूछा और बाहर निकल आया। मुनीर साहब के घर के सामने से लेकर सड़क के दूसरे मोड़ तक लोगों का आना-जाना लगा था। रंगीन धारीदार तहमद लपेटे, सफ़ेद और काली टोपियाँ लगाये, सिर में रूमाल बाँधे लोग मुनीर साहब के घर

की ओर बढ़ रहे थे। एकाएक सामने से रिज़वी साहब दिखायी दिये। वाहिद उनसे कतराना चाहता था, पर जब सामने पड़ ही गये, तो बरबस मुस्कराकर आदाब करना ही पड़ा। रिज़वी साहब के साथ नौ से लेकर तीन साल तक के चार बच्चे चल रहे थे, जिनके सिरों पर आड़ी-टेढ़ी, गन्दी और तेल में चीकट, मुड़ी-मुड़ायी टोपियाँ थीं।

रिज़वी साहब ने मुस्कराकर पूछा, "क्यों भाई, मुनीर साहब के यहाँ से हो आये क्या?"

वाहिद ने झिझककर कहा, "जी, नहीं।"

वाहिद से रिज़वी साहब बोले, "तो फिर चलो न!"

वाहिद क्षण-भर चुप रहा। फिर सम्हलकर बोला, "आप चलिए, मैं अभी आया।"

रिज़वी साहब आगे बढ़ गये।

कोई दो घण्टों के बाद जब वाहिद लौटा, तो मुनीर साहब के घर के सामने से भीड़ छँट गयी थी, पर महफ़िल अभी भी चल रही थी। कोई पूछे या न पूछे, स्वागत करे या न करे, लोग आते, सामने के नल पर हाथ धोते और बैठ जाते थे।

एक ओर से कन्धे पर कपड़े से ढँका तश्त लिये, चिचोड़ी गयी हड्डियों के गिर्द फैले ढेर-से कुत्तों को हकालती हमीदा की माँ निकली। हमीदा की माँ पिछले पाँच बरसों से मुनीर साहब के यहाँ नौकर थी। अक्सर तीज-त्यौहार के मौके पर मुनीर साहब के यहाँ से शीरनी लेकर हमीदा की माँ ही वाहिद के यहाँ आया करती थी। उससे बात करने की न तो कभी वाहिद को आवश्यकता ही पड़ी और न अवसर ही आया। फिर भी वाहिद ने आज रोककर पूछा, "हमीदा की माँ, क्या लिये जा रही हो?"

हमीदा की माँ ने पल्लू सम्हालकर कहा, "खाना है, भैया, सिटी

साहब के यहाँ पहुँचाने जा रही हूँ।"

"भला वह क्यों?"

"अब पता नहीं, सिटी साहब आम दावत में आना पसन्द करें, न करें, सो बेगम साहबा भिजवा रही हैं।"

और हमीदा की माँ आगे बढ़ने लगी, तभी एकाएक चौंककर, (जैसे कोई विशेष और महत्वपूर्ण बात छूटी जा रही हो) ज़रा आवाज़ ऊँची करके, रोकने के अन्दाज़ में वाहिद ने पूछा, "और कहाँ-कहाँ ले जाना है, हमीदा की माँ?"

हमीदा की माँ ने थोड़ा रुककर कहा, "पता नहीं, भैया। फिर भी इतना जानती हूँ, अभी मेरी जान को छुटकारा नहीं।"

वाहिद ओंठों में ही मुस्कराया और मुनीर साहब के घर की ओर बढ़ा। सामने आँगन में दो-तीन बड़ी-बड़ी दरियाँ (जो सम्भवतः हर दावत में पहुँच-पहुँचकर गन्दी हो चली थीं) बिछी हुई थीं, जिन पर साफ़, नये कपड़े पहने कुछ बच्चे खेल रहे थे। पास के नल से क्षण-प्रति-क्षण बह रहे पानी से आँगन के आधे हिस्से में कीचड़ फैल चुका था। पास ही दो-तीन चारपाइयाँ डाल दी गयी थीं। चारपाइयाँ शायद उन उम्मीदवारों के बैठने के लिए थीं, जो देर से आने के कारण चल रही पाँत समाप्त होने और दूसरी पाँत के प्रारम्भ होने की प्रतीक्षा करते हैं। उन्हीं लोगों में से क्या वाहिद भी है? वह बड़े फीके ढंग से मन-ही-मन हँसा। रस्सी भले ही जल गयी हो, पर उसका बल क्या इतनी जल्दी निकल जायगा?

वाहिद थोड़ी देर वहीं खड़ा रहा। वहाँ बैठने-बिठाने अथवा पूछने के लिए किसी की आवश्यकता नहीं थी। लोग आते थे, जाते थे।

भीतर के कमरे से, जहाँ खाना चल रहा था, बर्तनों की टकराहट के स्वर के साथ पुलाव की महक आसाँसों के साथ वाहिद के फेफड़ों

में भर गयी। मुँह भर आया, घूँट हलक के नीचे उतारकर वाहिद एक ओर खड़े दाँत खोदते और थूकते दो-तीन दाढ़ी वाले बुजुर्गों के पास जा खड़ा हुआ। दाँत के अँतरों में फँस गये गोश्त के टुकड़ों को तीली से निकाल फेंकने की जी-तोड़ कोशिश करते हुए उन लोगों ने केवल वही सवाल किया, जिसका जवाब वाहिद पिछले डेढ़ बरस से प्रायः हर मिलने वाले को दिया करता था कि उसके केस का क्या हुआ, किस वकील को लगाया है, कितनी पेशियाँ हो गयीं और अपील के फ़ैसले में और कितनी देर है, आदि।

वाहिद ने सैकड़ों बार कही बात एक बार फिर अनमने ढंग से दोहरा दी। तभी दरवाज़े के पास मुनीर साहब दिखायी दिये। इधर से ध्यान हटाकर वाहिद ने मुनीर साहब के चेहरे की तरफ़ अपनी आँखें जमा दीं। पर लगातार कई मिनटों तक मुनीर साहब की ओर मुस्करा-कर देखते रहने पर भी उनका ध्यान वाहिद की ओर नहीं लौटा और वह अपने किसी नौकर को कुछ हिदायतें देकर लौटने लगे, तो अपनी जगह से एकदम आगे आ, पुकारकर वाहिद ने कहा, "मुनीर साहब, आदाब अर्ज़ है!"

मुनीर साहब जाते-जाते पल-भर को रुके, आदाब लिया, वाहिद की ओर देखकर मुस्कराये और तेज़ी से भीतर चले गये।

एकदम पीछे अपनी जगह पर लौटने के पूर्व वाहिद ने सुना, पास के दाढ़ी वाले सज्जन उसका नाम लेकर पुकार रहे थे। लौटकर देखा, तो उन्होंने कहा, "वाहिद मियाँ, पान लीजिए।"

एक कम उम्र का लड़का वाहिद के आगे पान की तश्तरी बढ़ाये खड़ा था। क्षण-भर रुककर वाहिद ने अपने गिर्द देखा, सामने खड़े लड़के पर एक निगाह डाली, तश्तरी से एक पान उठाकर मुँह में रखा

और लौट रहे लोगों के पीछे हो लिया।

*

घर पहुँचकर देखा, सफ़िया तकिये में मुँह डाले चुपचाप पड़ी थी। बावर्चीखाने की ओर निगाह गयी, चूल्हा लिपा-पुता साफ़ था और धुले-मँजे बर्तन चमक रहे थे। वाहिद को देखकर सफ़िया उठ बैठी और अपनी ओर घूरकर देख रहे वाहिद की आँखों में केवल निमिष-भर के लिए देखकर ठण्डे से स्वर में पूछा, "कितने लोग थे दावत में? हमीदा की माँ तो नहीं आयी।"

वाहिद के जले पर जैसे किसी ने नमक छिड़क दिया हो। तिल-मिलाकर तीखे स्वर में उसने कहा, "हमीदा की माँ की ऐसी-की-तैसी! मैं ऐसी दावतों में नहीं जाता, यह जानकर भी तुम ऐसे सवाल करती हो? हमने क्या पुलाव नहीं खाया? जिसने न देखा हो, वह सालों के यहाँ जाय!"

* * *

शेफाली

धूल में सनी गाड़ी जब चढ़ाई पार कर ऊपर आयी तो आफ़ताब ने अपने शरीर से अलग हो रही शाल को अच्छी तरह अपने इर्द-गिर्द लपेट लिया और ढल रही साँझ के झीने अँधियारे में खड़े ऊँचे-ऊँचे घने दरख़्तों और दूर-दूर तक कोहरे में लिपटी फैली पहाड़ियों की ओर देखने लगा। साँझ के ख़ामोश सन्नाटे में गाड़ी एक बार चीख़कर जब रुकी तो अनायास ही पीछे से धूल का गुबार आकर पूरी गाड़ी और मुसाफ़िरों पर छा गया।

चपरासी ने आफ़ताब के पास आकर कहा, "साहब, गाँव आ गया।"

आफ़ताब ने चपरासी को सारा सामान सहेजकर उतारने का आदेश देकर सिगरेट सुलगाया और नीचे उतरा।

सड़क के किनारे के एक मोटे दरख़्त से चिड़ियों का शोर फैल रहा था। गाड़ी में से उठा-पटक की आवाज़ आकर उस शोर में मिलने लगी। आफ़ताब ने चारों ओर घूमकर देखा, दूर-दूर तक जंगल फैला हुआ था, जहाँ तक निगाह जाती थी, कोई आबादी न थी, सामने

सिर्फ़ एक फूस की झोंपड़ी थी, जिसके आगे लिखा था, 'जनपद प्राथमिक शाला।'

गाड़ी जब अँधेरे को चीरती आगे बढ़ गयी तो आफ़ताब जंगल की सर्द हवा से ठिठुरता शाला के निकट आया। पास ही के कमरे से एक लड़का, जो मुश्किल से बीस का होगा, निकलकर आया और उसने आफ़ताब को नमस्कार किया।

आफ़ताब ने उसकी ओर देखकर कहा, "आप ?"

"मेरा नाम बंसीलाल है," उसने कहा, "मैं यहाँ पोलिंग-क्लर्क हूँ।"

आफ़ताब हमेशा की तरह दौरे पर नहीं आया था, जनपद के इलेक्शन में आया था। यह गाँव उसके सर्किल में भी नहीं पड़ता था। वह मुस्कराया। वह यहाँ पोलिंग-आफ़िसर बनाकर भेजा गया है और असिस्टेण्ट के बीमार हो जाने के कारण अकेला ही आया है।

"आप अकेले ही आये हैं क्या ?" आफ़ताब ने पूछा।

बंसीलाल ने कहा, "जी नहीं, मेरे साथ और एक क्लर्क है।" और बिना अनुमति लिये या कुछ कहे वह अन्दर चला गया। थोड़ी देर बाद जब वह बाहर आया तो उसके साथ एक दुबली-पतली-सी लड़की थी। उसने आफ़ताब के पास आकर हाथ जोड़े। इससे पहले कि आफ़ताब उसके विषय में कुछ पूछे, बंसीलाल ने ही कहा, "आप भी इसी स्टेशन पर पोलिंग-क्लर्क नियुक्त हुई हैं। आपका नाम शेफाली देवी है। यहाँ जनपद में असिस्टेण्ट मिस्ट्रेस हैं।"

अपना परिचय दूसरे से दिलवाकर शेफाली को कैसा लगा, यह आफ़ताब नहीं जान सका। शेफाली चुपचाप एक कोने में खड़ी थी। आफ़ताब ने अपने जिस्म से शाल अलग की और कहा, "मुझे आफ़ताब रिज़वी कहते हैं। महीना भर भी नहीं हुआ, मेरा ट्रान्सफ़र

होशंगाबाद से यहाँ हुआ है। मिस्टर शर्मा....शर्मा को जानते हैं न आप, जो यहाँ ए० डी० आई० एस० थे, उन्हीं की जगह मैं आया हूँ। फ़िलहाल तो यहाँ पोलिंग-आफ़िसर हूँ !"

किसी ने कोई विशेष उत्सुकता प्रकट नहीं की। बंसीलाल ने वहीं खड़े-खड़े निकट ही सामान लेकर बैठ गये चपरासी को पुकारकर कहा कि सामान भीतर रख दे और फिर आफ़ताब की ओर देखकर कहा, "अन्दर आइए, अँगीठी सुलग रही है। यहाँ तो बड़ी सर्दी है।" और आफ़ताब के आने की प्रतीक्षा किये बिना ही वह अन्दर चला गया और अन्दर अँगीठी की गर्मी से अलसाकर ऊँघ रहे चौकीदार को डाँटा कि अँगीठी में कुछ मोटी लकड़ियाँ लगा दे और ऊँघना बन्द करे।

लाल-नीली तेज़ लपटों वाली अँगीठी के पास आकर आफ़ताब बैठ गया और अपनी ठिठुरी हुई हथेलियाँ आग की आँच में फैला दीं तो बंसीलाल, जो एक दिन पहले ही यहाँ पहुँचा था, सुनाने लगा कि यह गाँव कितना मनहूस है, यहाँ के लोग कैसे हैं, पैसे देकर भी यहाँ कोई सामान नहीं मिलता, जब वह यहाँ पहुँचा तो कितनी देर के बाद उसे खाना मिल पाया, पोलिंग-बूथ बनाने में उसे कितनी परेशानी उठानी पड़ी आदि।

शेफाली थोड़ी देर वहीं निःशब्द खड़ी रही, फिर अपने कमरे की ओर चली गयी।

बड़ी रात गये जब खाना लेकर बंसीलाल आया तो वह अकेला था। उसकी आँखें धुएँ से लाल हो रही थीं। मालूम होता था कि उसने कई घण्टे गीली लकड़ियों के धुएँ में अपनी आँखें फोड़ी हैं। आफ़ताब ने आश्चर्य से कहा, "यह क्या, खाना आपने बनाया है ?"

उत्तर में बंसीलाल सरलता से झुक गया और हँसकर बोला कि आफ़ताब का चपरासी तो देहाती है, उसे खाना बनाना नहीं आता।

आफ़ताब ने बड़ी मधुरता के साथ बंसी से, उसकी तकलीफ़ के लिए, माफ़ी माँगी और उसे धन्यवाद दिया।

रात के सूनेपन में अकेला आफ़ताब जब खाने के लिए झुका तो सितारों की उस फीकी झिलमिलाहट में उस युवती के दो बार खाँसने की आवाज़ आयी और लौट गयी। तश्तरी की ओर बढ़ता आफ़ताब का हाथ पल भर के लिए ठिठका और आँखों में एक अनजानी-सी शक्ल घूमी, जिसके नक्शो-निगार कैसे हैं, वह नहीं जानता; चेहरे का रंग कैसा है, उसे नहीं मालूम; एक साड़ी में लिपटा, अँधेरे में खड़ा जिस्म, जो बहुत दुबला-पतला है, उसके निकट आकर हाथ जोड़ता है, बस !

खाँसी की आवाज़ फिर आयी तो आफ़ताब ने अपने मस्तक को एक झटका देकर पेशानी पर सिलवटें डालीं और पहला कौर उठाया।

अगली सुबह काफ़ी दिन चढ़ने पर आफ़ताब उठा। उस समय भी दरख़्तों के तने गीले थे और पत्तों से ओस चू रही थी। क्षण-भर के लिए तो आफ़ताब को ऐसा लगा कि बरसात हो रही है, लेकिन सामने की ओर देखा तो आँगन में नर्म-सुनहरी धूप फैली थी।

उसके अलसाये-से मन को वह सुनहरी धूप बहुत अच्छी लगी, उसमें बैठने के लोभ को वह संवरण न कर सका और वह बाहर निकल आया। शेफाली उसकी ओर पीठ किये धूप में बैठी थी। उसके काले-गीले बाल पीठ पर फैले थे और उनमें से पानी की नन्हीं-नन्हीं बूँदें चू रही थीं। आहट पाकर, शेफाली ने पलटकर देखा और अपने ढलक आये आँचल को उठा, सिर ढँककर उठ खड़ी हुई। आफ़ताब ने देखा, यही वह शेफाली थी, वही रात वाली शेफाली, जिसने चुपचाप आकर हाथ जोड़े थे और खाँस रही थी। शेफाली सचमुच एक

दुबली-पतली औरत थी जो २४ से अधिक की न होगी। उसके चेहरे का नक्शा कोई खास नहीं था। रंग गोरा होने पर भी कुछ पीलाहट लिये था। आँखें बड़ी-बड़ी अवश्य थीं, पर उनमें बड़ी सादगी और करुणा थी। शाम के अँधेरे में आफ़ताब ने उस नारी के जिस रूप की कल्पना की थी, वह उससे एकदम भिन्न थी। उसे शायद वह शेफाली विशेष न भायी। मुस्कराकर उसने पूछा, "नहा लिया क्या आपने ?"

शेफाली ने वैसे ही सिर झुकाकर कहा, "जी।"

"क्या कह रही हो," आफ़ताब ने आश्चर्य से कहा, "इतनी सुबह ! ठण्डे या गर्म पानी से ?"

शेफाली के ओंठों के अगले भाग में मुस्कान की एक हल्की-सी रेखा काँपी और उसने कहा, "पास ही एक पहाड़ी नदी बहती है। वहीं मैं नहा लेती हूँ।"

उस सुबह आफ़ताब, शेफाली और बंसीलाल तीनों ने एक ही कमरे में इकट्ठे चाय पी और दोपहर का खाना भी साथ खाया। बंसीलाल खूब हँसता-हँसाता रहा और शेफाली शिकायत करती रही कि बंसी बाबू तो बे-बात की बात पर भी हँसते-हँसाते हैं !

दोपहर के खाने के बाद सब ने मिलकर इलेक्शन सम्बन्धी कार्य किये। आफ़ताब ने पोलिंग-बूथ में (जो कि बंसी ने बनवाया था) आवश्यक परिवर्तन किये। पोलिंग-डे के पहले ही आफ़ताब सारी झंझट से दूर हो जाना चाहता था।

साँझ आयी, वन की साँझ, रक्ताभ, ऊदी और गुलाबी बादलों की छाया में डूबी हुई। ओस-धुली हवा सुबह की तरह ताज़ी थी और जंगली परिन्दों के शोर में झरने के गीत थे। पिछले दिन ही शाम को घूमने का प्रोग्राम बना था, अतः आफ़ताब शेफाली की प्रतीक्षा करने लगा। बंसी बाबू को प्रकृति या उसकी सुन्दर साँझ से कोई दिलचस्पी

न थी। शेफाली जब आयी तो क्षण-भर के लिए आफ़ताब देखता ही रह गया। शेफाली के पीले तेज-हीन और कमज़ोर-से चेहरे पर आज कितनी चमक थी! तभी सहसा आफ़ताब की निगाह शेफाली की सिन्दूर-भरी माँग पर पड़ी।

आफ़ताब चौंका तो नहीं, पर उसे लगा, जैसे एक पल के लिए उसके घूमने जाने का उत्साह शिथिल हो गया हो और उसे अनुभव हुआ कि बंसीलाल काफ़ी समझदार लड़का है। भला जंगलों, पहाड़ों और नदियों में होता ही क्या है! शाम जैसे घर में वैसे नदी या किसी खूबसूरत झरने के किनारे। पर घूमने का प्रोगाम अब रोक देने का कोई कारण न था।

मुस्कराकर आफ़ताब बोला, "चलिए।"

रास्ते में कोई नहीं बोला। दोनों चुपचाप चलते रहे। नदी आयी, पहाड़ी नदी, जो निर्जन में जंगलों के बीच चट्टानों से टकराती उन पर छितराती गीत गाती है, सिर धुनती है और जाने कहाँ भागी चली जाती है।....काली चट्टानें, जिनके सीने साफ़ हैं, धुले हैं और जिन पर दरख़्तों के सूखे पत्तों की नाज़ुक रेखाएँ खामोश पड़ी हैं।

आफ़ताब और शेफाली एक चट्टान पर बैठ गये।

नदी अपने उजले सीने में पास वाली पहाड़ी की, जंगल के ऊँचे चौड़े दरख़्तों की और इर्द-गिर्द उग आयी घास की छायाएँ लिये आफ़ताब की ओर देखती है, शेफाली की ओर देखती है, पर दोनों में से कोई भी नहीं बोलता....कोई नहीं।

सहसा आफ़ताब ने पूछा, "शेफाली, क्या सोचती हो?"

शेफाली चौंकी नहीं। बड़ी देर तक वह नदी की उठती-मिलती नन्हीं लहरों की ओर देखती रही, फिर बोली, "दीपिका की बहुत याद आती है। उसे जीवन में मैं पहली बार छोड़कर आयी हूँ।"

आफ़ताब की आँखें क्षितिज के कोर और दूर नदी की कलकल करती छाती पर फैल गयीं, जहाँ का पानी नीला है, जहाँ बादलों की रंगीन शक्लों के साये पानी में तैरते हैं, किनारे के दरख्तों के झुण्ड में चमगादड़ लटकते हैं और जिस पर से जंगली ख़ूबसूरत और रंगीन परिन्दे उड़ते हैं।

आफ़ताब ने पूछा नहीं, पर शेफाली ने बताया कि दीपिका उसकी तीन बरस की बच्ची का नाम है, जो उसके बिना नहीं रह सकती और उसके बिना खाना तक नहीं खाती। न चाहते हुए भी उसे छोड़कर आना पड़ा। वह तो इलेक्शन के कार्य से छुट्टी चाहती थी, लेकिन उसे नहीं मिल सकी। और दीपिका को न लाने का कारण यह हुआ कि पता नहीं कैसे और किस ढंग के पोलिंग-आफ़िसर आते हैं, शायद उन्हें उसका बच्चा अच्छा न लगे। यही सब सोचकर वह ममता को दबा बैठी।

आफ़ताब ने कहा, "अपना बच्चा क्या दूसरों के चाहने या न चाहने के लिए होता है? बच्चे तो बच्चे ही हैं, जैसे तुम्हारे वैसे दूसरों के। वे सभी से प्यार पा जाते हैं। तुम पता नहीं विश्वास करोगी या नहीं, मुझे बच्चों से बड़ी मुहब्बत है।"

शेफाली ने आफ़ताब की ओर देखकर पूछा, "आपको अपने बच्चों की याद नहीं आती?"

क्षण-काल के लिए आफ़ताब ने शेफाली की ओर देखा, फिर हँसकर बोला, "नहीं, अभी मेरी शादी ही नहीं हुई।"

शेफाली एकदम चुप हो रही। उसने आगे कुछ भी नहीं पूछा और सामने देखने लगी। एक नीलकंठ अपने रंगीन और दिलकश पंख मारता आकर सामने के दरख्त की एक पतली टहनी पर बैठ गया और दो-तीन बार चीख़कर उड़ गया। फुनगी हिलने लगी और दूर

उस परिन्दे की आकृति एक धब्बा बन गयी, एक काला-काला निशान, जो कुछ पलों के बाद मिट गया।

आफ़ताब ने पूछा, "दीपिका के पिता क्या उसे सम्हाल न लेंगे ?"

एकबारगी ही चौंककर शेफाली ने आफ़ताब के चेहरे की ओर देखा। कुछ देर देखती रही, फिर बिना कुछ भी बोले नदी के पानी में उसने अपने हाथ डाल दिये और पानी में दायरे पैदा करने लगी।

दूसरी ओर देखकर आफ़ताब ने पूछा, "क्या करते हैं दीपिका के पिता ?"

शेफाली फिर भी कुछ न बोली। और आफ़ताब को लगा, जैसे उसने शेफाली की किसी दुखती रग पर उँगली धर दी हो, अनायास ही वह अपने प्रश्न से उसे चोट कर बैठा हो। पानी के ख़ामोश सीने में हलचल पैदा करते शेफाली के हाथ रुके और झटककर उसने आँचल से हाथ पोंछ लिये।

अपराधी के-से स्वर में आफ़ताब ने कहा, "माफ़ करना, मुझे शायद यह-सब नहीं पूछना चाहिए था।"

पर उसकी कल्पना के विपरीत शेफाली ने साधारण शिष्टाचार भी न निभाया कि नहीं, उसके प्रश्न से उसे कोई दुख न हुआ। केवल कुछ पल निःशब्द बैठी रही और फिर जल्दी से उठकर बोली, "चलिए, अब अँधेरा हो रहा है।"

अपने कमरे में वापस आकर आफ़ताब चारपाई पर लेट गया। अभी थोड़ी देर पहले की बातों पर वह विचार करने लगा। उसे ग्लानि हो रही थी कि क्यों वह किसी से भी घुल-मिल जाने के लिए उतावला बना रहता है, क्यों वह चाहता है कि हर कोई बिलकुल ही उसके निकट आकर उसका अपना हो जाय। और फिर शेफाली के विषय में सोचकर उसने अपने को बहुत कोसा। वह लड़की कितनी अशिष्ट, अभद्र और

मनहूस है ! उसमें क्या है ? न रूप, न सौन्दर्य, न पद, न प्रतिष्ठा। एक प्राइमरी स्कूल की असिस्टेण्ट मिस्ट्रेस, बस ! आफ़ताब में किस चीज़ की कमी है ? वह एक एक्ज़ीक्यूटिव आफ़िसर है और अच्छा वेतन पाता है। वह शेफाली से कई बातों में श्रेष्ठ है। उसने पास ही की मेज़ पर रखे आईने को उठाकर देखा, भले उसका रंग साँवला हो, आकर्षण तो है। उसके बाल कितने अच्छे हैं ! दाँत कितने सफ़ेद ! गाल कितने भरे-भरे और कन्धे कितने चौड़े !....बड़ी देर तक आफ़ताब अपने को देखता रहा। शेफाली क्या है ?....कोई भी लड़की उसे पाकर अपने को सौभाग्यशालिनी समझ सकती है।

और उसकी आँखों के सामने पिछले कई दृश्य घूम गये—

जब वह हाई स्कूल में पढ़ता था तो मैट्रिक में एक पंजाबी लड़की पढ़ती थी, गोरी-चिट्टी....भले बहुत सुन्दर न हो, तो भी साधारण लड़कियों से तो कहीं अच्छी थी। वह आफ़ताब की सीट के बिलकुल सामने बैठती थी। अक्सर जाने और अनजाने में आफ़ताब की आँखें उसकी आँखों से टकरा जाती थीं और एक झुरझुरी-सी आफ़ताब के जिस्म में भर जाती और आफ़ताब का मुँह लाल हो उठता था।.... पर उसे जाने दो।....दूसरी लड़कियाँ....रेवा, ताहरा, शीला, परवीन....

परवीन उसके दूर के रिश्ते की ख़ाला की लड़की थी।.... आफ़ताब की आँखों के आगे काफ़ी घेरदार ग़रारे, पतली-सी कुरती और हल्के-फुल्के दुपट्टे में परवीन उभर आयी, जो आफ़ताब की छोटी बहन की शादी के वक़्त उसके यहाँ लगभग दो हफ़्तों तक रही थी। उन दो हफ़्तों में परवीन आफ़ताब की आँखों के सामने से सैकड़ों बार गुज़री। कई बार आफ़ताब के कमरे में चाय लेकर आयी। कई बार उसके लिए अपने हाथों से खाना परोसा। एक दिन बड़े साहस के बाद आफ़ताब ने उसके हाथ से चाय की प्याली न लेकर, उसकी गोरी नर्म और चिकनी

कलाई छूकर और उसे भरपूर आँखों से घूरकर कहा, "परवीन !"

परवीन ने थरथरायी आवाज़ में कहा, "जी !"

पर आफ़ताब आगे कुछ न कह सका। परवीन थोड़ी देर तक सिर झुकाये खड़ी रही, फिर प्याला लेकर चुपचाप चली गयी।....बाद में उसकी शादी हो गयी और अब तो उसके एक बच्चा भी है।

वह लड़कियों के सदा इतने पास रहकर भी इतनी दूर क्यों रहा? कितनी लड़कियाँ उसके जीवन में आयीं, शेफाली से भी जवान, शेफाली से भी सुन्दर, पर उसी ने तो अपनी बे-हिम्मती से उन्हें खो दिया। शेफाली कौन है? एक ख़ामोश ख़यालों, पीले चेहरे और दुबले-पतले जिस्म वाली शादीशुदा औरत, जिसके एक बच्चा है और जो केवल साठ रुपयों में गिनी जाने वाली असिस्टेण्ट मिस्ट्रेस है!

आफ़ताब मुस्कराया, नाटकीय ढंग से हँसा और किसी बहुत पुराने गीत की एक कड़ी गुनगुनाने लगा। तभी चपरासी ने आकर खाने की सूचना दी। आफ़ताब ने अपने गीत का स्वर कुछ ऊँचा किया और रसोई-घर की ओर बढ़ा। चपरासी ने बताया कि बंसीलाल ने आज उसकी प्रतीक्षा नहीं की, पहले ही खा लिया और शेफाली आज खाना नहीं खायेगी। यह सुन क्षण-भर के लिए आफ़ताब रुक गया और चाहने पर भी उसने कारण नहीं पूछा कि शेफाली आज खाना क्यों नहीं खा रही है। पर कौर उठाते उसे लग रहा था, जैसे उसकी थोड़ी देर पहले की वह बटोरी गयी ख़ुशी कहीं डूब गयी है, मन एक उदासी से भर गया है और गीत ओंठों के जाने किस कोने में खो गया है।

आधी रात गये जब आफ़ताब की नींद खुली तो देखा कि शेफाली उसकी चारपाई के पास ही खड़ी उसे जगाने की कोशिश कर रही है। आफ़ताब चौंककर उठ बैठा और परेशान और घबरायी-सी

शेफाली की ओर देखकर बोला, "क्या बात है, शेफाली?"

शेफाली का चेहरा लाल था और आँखें डूबी-डूबी-सी हो रही थीं। बड़ी कठिनाई से जैसे सहमे-से स्वर में उसने कहा, "मैं उस कमरे में नहीं सो सकूँगी।"

आफ़ताब क्षण-भर शेफाली की ओर देखता रहा। उसकी समझ में कुछ नहीं आ रहा था। वैसे ही स्वर में उसने पूछा, "क्यों, क्या हुआ?"

शेफाली ने दूसरी ओर मुँह फेरकर कहा, "आप खुद देख लीजिए।"

आफ़ताब बिना कुछ बोले शेफाली के कमरे की ओर बढ़ा। बंसीलाल और शेफाली के कमरे आफ़ताब के कमरे से ज़रा हटकर रसोई-घर के पास थे। दरअसल वह एक ही कमरा था, जिसे बीच से बाँस के एक टट्टे से विभक्त कर दिया था। और इस तरह बंसीलाल और शेफाली दो कमरों में होते हुए भी एक ही कमरे में थे। अन्दर आकर आफ़ताब रुक गया। लालटेन धीमी जल रही थी और बंसीलाल अपने बिस्तर पर था।

लौटकर आफ़ताब ने शेफाली से कहा, "वहाँ क्या है?"

शेफाली ने हैरत में आकर अपनी आँखें उठायीं, फिर धीमी आँच से सुलगती अँगीठी की हल्की-हल्की उठती नीली लपटों के बीच आँखें जमाकर बोली, "बंसी को मैं अच्छा आदमी समझती थी। आज उसने शराब पी है। वह रोज़ ही शराब पीता है, पर आज वह कितना गिर गया! उसके कमरे में आपने उस लड़की को नहीं देखा?"

आफ़ताब ने चुपचाप सुन लिया। उसे कोई आश्चर्य नहीं हुआ। क्षण-भर रुककर उसने सिगरेट सुलगाया और ढेर-सा धुआँ छोड़कर शेफाली की ओर देखने लगा। शेफाली किसे पतन कहती है? उसका उत्थान क्या है? बंसी एक युवक है। उसका जिस्म जवान है और

उसकी रगों में गर्म-ताज़ा खून बहता है। वह पतन-उत्थान नहीं समझता। समाज के बन्धन वह स्वीकार नहीं करता। और अधिक क्या ?

आफ़ताब ने पूछा, "शेफाली, तुम यहाँ सोओगी ?"

शेफाली ने आफ़ताब की ओर देखा, फिर बोली, "हाँ ! वहाँ से तो अच्छा ही होगा।"

आफ़ताब कुछ नहीं बोला। चपरासी को जगाकर उसने शेफाली की चारपाई मँगवायी, बिस्तर लगवाया और लेट रहा। अँगीठी के दूसरी ओर शेफाली की चारपाई लगी, जिस पर साफ़-धुली, दूध-सी चादर बिछी थी। बड़ी देर तक शेफाली अँगीठी के पास बैठी रही, फिर वहीं से पूछा, "सो गये क्या ?"

"नहीं," आफ़ताब ने कहा, "जाग रहा हूँ। तुम सोओगी नहीं ?"

आफ़ताब की प्यार के अतिरेक में डूबी आवाज़ से जैसे प्रभावित होकर शेफाली ने मीठे स्वर में कहा, "शाम की बात का आपने बुरा तो नहीं माना ?"

आफ़ताब ने कहा, "नहीं शेफाली, जो अधिकार तुम देना नहीं चाहती, उसे छीनने का स्वभाव मेरा नहीं।"

शेफाली गम्भीर स्वर में बोली, "कह नहीं सकती कि मेरे अनजाने में ही सारे अधिकार मुझसे छिनते क्यों जा रहे हैं ? शाम को आपने दीपिका के पिता के विषय में पूछा था। अब बताती हूँ। दीपिका के पिता मेरे साथ नहीं रहते। जब से मैं यहाँ आकर नौकरी करने लगी हूँ, अकेली ही रहती हूँ। इससे अधिक और क्या जानना चाहते हैं ?"

आफ़ताब ने अधिक जानने का हठ नहीं किया। शेफाली रो रही थी। आफ़ताब मन-ही-मन हँसा, नारी एकाकी होकर कितनी बेसहारा हो जाती है ! शेफाली क्यों रोती है ? उसकी करुणा का आधार दीपिका

का पिता है अथवा एक पुरुष का शरीर-मात्र, जिसे समाज ने उसे दिया था ? बिना कुछ कहे आफ़ताब ने करवट बदली। बड़ी रात गये शेफाली अपनी चारपाई पर आयी और कम्बल सिर तक खींच लिया।

आफ़ताब फिर सो नहीं पाया। रात के सन्नाटे में रह-रहकर वह शेफाली के खाँसने की आवाज़ सुनता रहा। न मालूम शेफाली कब सोयी।

*

आफ़ताब ने सिर उठाकर देखा, एक बड़ी भीड़ पोलिंग-स्टेशन के सामने इकट्ठी हो रही थी और हल्का-सा कोलाहल फैल रहा था। नंगे-अधनंगे, काले-काले असभ्य आदिवासियों का समूह। कठोर जिस्म वाले युवक, झुर्रियाँ लटकाये बूढ़े और खुले सीने और बेपर्दा जंघाओं वाली युवतियाँ।

आफ़ताब ने आँखें झुका लीं। शेफाली ने चाय की प्याली बढ़ायी और हँसकर बोली, "आज पोलिंग-डे है और अभी तक आपकी चाय नहीं हुई !"

शेफाली को देखकर आफ़ताब मुस्कराया और चाय की प्याली लेने के लिए उसने हाथ बढ़ाया, पर हाथ रुक गये। आँखें वैसी-की-वैसी जमी रह गयीं। कौन कहता है कि शेफाली पीली, दुबली-पतली और कमज़ोर है ? शेफाली की नीली साड़ी, उसका गुलाबी ब्लाउज़, उसके काले बाल, सीधी माँग, हँसते ओंठ और मीठे बोल !....शेफाली हँस उठी। शेफाली की आज की हँसी में कैसी मिठास थी, कितना माधुर्य था ! क्या था उसमें जो आज आफ़ताब को हिला गया ? अपनी ओर लगातार ताकते देखकर शेफाली सहम गयी और चाय की प्याली मेज़ पर रखती हुई बोली, "क्या देखते हैं ?"

आफ़ताब ने शेफाली के प्रश्न का जवाब दिये बिना उसे भरपूर आँखों से घूरकर कहा, "शेफाली !"

और तभी अपने बालों में कंघी करता बंसी आया और बोला, "साहब, साढ़े आठ बज गये। पोलिंग शुरू कर दें ?"

शेफाली की ओर से आँखें हटाकर आफ़ताब ने कलाई-घड़ी देखी, फिर बोला, "हाँ !....शेफाली, तुम बैलट-पेपर इशू करो। बंसी बाबू, आप बाहर से चिट इशू करें, मैं देखता हूँ।"

और वह तूफ़ान जो अनायास ही आया था, केवल झकझोरकर चला गया। आफ़ताब कार्य में उलझ गया। बंसीलाल अपने में और शेफाली लोगों की भीड़ में खो गयी।

लगभग एक बजे जब लोगों की भीड़ छँटने लगी तो बंसीलाल ने आफ़ताब से कहा कि वह और शेफाली खाना खा लें, ताकि उनके बाद वह स्वयं खा सके। शेफाली आफ़ताब को लेकर रसोई-घर में आयी। चपरासी बाहर व्यस्त था, अतः शेफाली ने स्वयं अपने हाथों से थालियाँ धोयीं, अपने आँचल से पोंछी और आफ़ताब के आगे खाना परोस दिया। फिर स्वयं भी एक थाली लेकर आफ़ताब की बगल में बैठ गयी।

आफ़ताब ने हँसकर कहा, "शेफाली, तुम भूल तो नहीं रही हो कि मैं मुसलमान हूँ ?"

शेफाली ने क्षण-भर के लिए आफ़ताब की ओर देखा, फिर हँसकर बोली, "आप निश्चिन्त रहें। मुझे अच्छी तरह याद है कि आप इन्सान हैं !"

"ऐसी जगह ही मुझे शक होने लगता है, शेफाली !"

"क्या ?"

शेफाली की ओर गहरी आँखों से देखकर उसने कहा, "नहीं

लगता कि मैं अविवाहित हूँ और मेरे कोई नहीं।"

शेफाली ने पलकें झुका लीं और चुपचाप खाने लगी। आफ़ताब ने देखा, शेफाली के चेहरे पर एक रूखा-सा भाव था। उसकी कल्पना के विपरीत शेफाली ने उस बात को आगे बढ़ने ही नहीं दिया।

शाम को जब पोलिंग समाप्त हुआ तो बंसीलाल ने कुछ आवश्यक कार्य का बहाना किया और कहीं चला गया। अकेले आफ़ताब ही को कार्य में जुटना पड़ा। सीलिंग वग़ैरा सब उसने स्वयं ही किया। शेफाली केवल चुपचाप सामने बैठी रही और जब कार्य समाप्त हो गया तो सारा सामान बन्द कर वह चली गयी।

प्रति दिन की तरह ही अँधेरा सिमटकर गहन हुआ, जंगल के ऊँचे दरख़्तों के उस पार आसमान के सीने में एक सितारा उगकर टिमटिमाने लगा। पास ही के पीपल पर परिन्दों ने अपने पर फड़फड़ाये और अन्धकार में डूबी पहाड़ी की ढलान से ठण्डी हवा उतरने लगी तो चौकीदार ने रोज़ की तरह आफ़ताब के कमरे में अँगीठी सुलगा दी। चपरासी लालटेन जला गया और आफ़ताब ने सिगरेट सुलगाकर अपने को निढाल-सा चारपाई पर डाल दिया। आज उसका मन इतना उदास क्यों है? उसके डूबे-डूबे-से जी में आज इतना रीतापन कैसे समा गया? क्यों लगता है, जैसे उसके भीतर की कोई चीज़ गुमसुम-सी हो गयी है और वह थक गया है? आफ़ताब जानता है कि बंसी कहाँ गया होगा, लेकिन जानते हुए भी कि बंसी आज फिर शराब पीने गया है, उसने कोई बाधा नहीं दी। बंसीलाल देहात में अकेला रह नहीं सकता। आफ़ताब ने भी तो शादी नहीं की। पर जाने दो।

शेफाली ने चाय की प्याली बढ़ायी और कहा, "बंसी बाबू अभी तक नहीं आये। आप नहीं जानते कि वे कहाँ गये हैं। आपने क्यों जाने दिया?"

आफ़ताब ने जानते हुए भी कुछ नहीं कहा, अनमने ढंग से चाय की प्याली ली और फीके ढंग से ओंठों से लगाकर, उदास स्वर में कहा, "तुम मुझ पर इतना अधिकार कैसे जमा लेती हो शेफाली, मैं यही सोचता हूँ।"

शेफाली क्षण-भर चुप रही, फिर सहसा उठकर तीखे स्वर में बोली, "नहीं। मैं आपकी कोई नहीं, जो अधिकार जमाऊँ!"

इसके पहले कि शेफाली कमरा छोड़कर चली जाती, आफ़ताब उठकर शेफाली के पास आया और उसका हाथ पकड़कर भरे स्वर में कहा, "सुनो शेफाली!"

शेफाली रुक गयी, पर कुछ बोली नहीं। उसके चेहरे का रंग बदल गया था और आवाज़ में थरथराहट और करुणा आ गयी थी। वह कुछ देर शेफाली के चेहरे की ओर देखता रहा, फिर उसका हाथ छोड़कर बोला, "कुछ नहीं, जाओ।"

रात जब वह बिस्तर पर लेटा तो शेफाली के विषय में सोचने लगा, शेफाली किस बात पर अहंकार करती है? क्या उसे पुरुष से अलग रहकर जीने का दावा है?....लेकिन क्या आफ़ताब भी नारी से दूर रहकर जीने का दावा नहीं करता? यदि नहीं, तो फिर उसने शादी क्यों नहीं की? शादी वाला प्रश्न बेतुका है, आफ़ताब के पास इसका कोई जवाब नहीं। और नारी से दूर रहकर जीने वाली बात? उँह, सारे सवाल बेतुके हैं। व्यर्थ!....सहसा उसे याद आया कि वह कल चला जायगा और उसे जाने क्यों बड़ी खुशी हुई। शहर के चिल्ल-पों और हो-हल्ले में ऐसे सवाल नहीं उठते और उनके जवाब के लिए परेशान भी नहीं होना पड़ता।

आफ़ताब ने काफ़ी सन्तोष के साथ करवट बदली, सिगरेट सुलगाया और एमिली-ज़ोला का 'फ़ार ए नाइट आफ़ लव' पढ़ने लगा।

ज़ोला की नायिका बड़ी सुन्दर है। एक अभागा युवक है जो उसे पाने के लिए प्रयत्नशील है, पर वह कुरूप है। नायिका का एक बचपन का नौकर साथी है, जो बचपन में उसके साथ घूमा किया है, खेला किया है। बचपन में वह उसकी पीठ पर सवार होकर दौड़ती फिरती थी। अब वह एक युवक है, जिससे वह सब के सामने तो नौकरों की तरह व्यवहार करती है, लेकिन एकान्त में उसका व्यवहार दूसरी तरह का होता है। एक गर्मी की साँझ। थककर वे दोनों दरख़्त के एक घने साये में बैठे हैं। सहसा वह पूछती है, "मैं थक गयी हूँ। यदि आज तुम बचपन की तरह फिर से अपनी पीठ पर लादकर मुझे ले चलो, तो ?"

नायक को कोई आपत्ति नहीं। हँसकर गम्भीरतापूर्वक वह अनुमति दे देता है और वह बिना एक भी शब्द कहे उसकी पीठ पर उछलकर बैठ जाती है और कहती है, "अब चलो।"

नायिका उसकी पीठ से चिपक गयी है। उसकी दोनों टाँगें सटी हैं, उसकी मांस-भरी-रानों ने उसे दबोच लिया है और नायक बिना एक भी शब्द बोले, उसके गर्म मांस के दबाव और वज़न से बोझल अपनी टाँगों से दौड़ रहा है और गर्म-गर्म साँसें ले रहा है। बड़ी दूर भागने पर फिर वह बाधा देती है, पर वह नहीं रुकता, दौड़ता ही चला जाता है, यहाँ तक कि नायिका के लम्बे नाख़ून विरोध करते हुए उसके जिस्म में धँसने लगते हैं और अन्त में वह एक किसान के पुआल के गट्ठों के बीच ले जाकर उसे पटक देता है, जहाँ वह युवती निस्सहाय-सी लम्बी साँसें लेती हुई पीला चेहरा और काली-आँखें लिये युवक को घूरने लगती है....

आफ़ताब ने पुस्तक बन्द कर दी।

उसकी स्वयं की साँसें गर्म हो उठी थीं और धमनियों का रक्त तेज़ी

से बह रहा था। आफ़ताब ने हथेलियाँ छुईं, लपटों की तरह तपी हुई थीं, और मस्तक और कनपटी की नसें बजने लगी थीं। उसे लगा, जैसे उसके भीतर अंगारे सुलग रहे हों, शोले भभक रहे हों। वह उठ बैठा।

अँगीठी की लाल-नीली लपटों और लालटेन की धीमी रोशनी में उसने देखा, शेफाली सो रही है। शेफाली भी उसी नायिका की तरह है। उसका भी जिस्म जवान है और जंघाएँ....उसका गला सूखने लगा और अपनी वैसी ही थरथरा रही टाँगों को सम्हाल वह शेफाली की चारपाई के पास आया और पाटी पर बैठकर देखने लगा, शेफाली सो रही थी। उसकी पलकें बन्द थीं और पूरा जिस्म निढाल था। भले उसके जिस्म में ज़ोला की नायिका की तरह मांस न हो पर....

आफ़ताब झुका। उसके चेहरे के पास जाकर आफ़ताब के ओंठों के अगले भाग में शेफाली की गर्म-गर्म साँस टकरायी। एक नशीली मिठास, जिससे आफ़ताब के मन-प्राण सिहर उठे और पलकें मुँद गयीं। फिर सहसा अफ़ताब ने अपने ओंठ बढ़ाकर शेफाली के गर्म, ख़ामोश और अधखुले ओंठों पर धर दिये।....और आफ़ताब को कुछ याद नहीं। उसने केवल शेफाली का चौंकना और हड़बड़ाकर उठना देखा। अँगीठी की लपटों में देखा, शेफाली पीली पड़ गयी थी और लम्बी-लम्बी साँसें लेती आफ़ताब की ओर अविश्वास की निगाहों से देख रही थी। आफ़ताब बुत बना थोड़ी देर बैठा रहा। अपने सूखे ओंठों पर ज़बान फेरकर उसने कुछ कहने की कोशिश की, पर कह नहीं पाया। थरथरा रही टाँगों से उठकर वह अपने बिस्तर पर आया और सिर तक शाल खींच ली।

बड़ी देर के बाद शेफाली अपनी चारपाई से उठकर आफ़ताब के पास आयी और एक कोने में बैठकर गम्भीर स्वर में पुकारा, "आफ़ताब!"

आफ़ताब बोला नहीं। बिना हिले-डुले पड़ा रहा। शेफाली ने बड़े आदर-सहित उसके चेहरे से शाल हटायी और बोली, "आपसे माफ़ी माँगने आयी थी!"

आफ़ताब ने अपनी आँखें शेफाली के चेहरे से हटाकर मूँद लीं और मुँह फेर लिया।

शेफाली ने कहा, "मेरे पास आप क्या लेने आये थे?"

आफ़ताब ने आँखें खोलीं और पलकें उठाकर शेफाली की ओर देखा। उनके कोर गीले थे या नहीं, यह शेफाली ने नहीं देखा। केवल बड़े करुण और भरे स्वर में बोली, "विश्वास मानिए, मेरे पास आपको देने को कुछ नहीं। जो कुछ भी है, वह मेरा कहे जाने लायक नहीं। दीपिका के पिता अभी भले भूल जायँ, पर मैं जानती हूँ, वे मेरे बिना नहीं रह सकते। मेरी दीपिका उन्हें बहुत प्यारी है, बहुत!" सहसा शेफाली रुक गयी और खाँसने लगी। लगातार, न रुकने वाली खाँसी से उसका चेहरा लाल हो गया और उसकी साँस रुकने-रुकने को हो गयी।

आफ़ताब ने एक ओर शाल फेंककर, सीना दबाये बैठी शेफाली को आदरपूर्वक उठाया और उसे अपने सहारे उसकी चारपाई तक ले जाकर बिस्तर पर लिटा दिया। शेफाली अब भी खाँस रही थी। कम्बल ओढ़ाकर आफ़ताब बोला, "सो जाओ, तुम्हें तो बड़ी खाँसी है!"

शेफाली खाँसती-खाँसती रुकी और भारी साँस से बोली, "मुझे सच-सच बताओगे?"

"क्या?"

"मुझे टी० बी० हो गयी है न?"

आफ़ताब शेफाली के उस आकस्मिक प्रश्न पर सोचने लगा। टी० बी० के कई भयानक रोगी उसकी आँखों के आगे घूम गये, जो

घुल-घुलकर मरे थे। शेफाली का जिस्म भी पतला पड़ता जायगा, खून सूख जायगा, आँखें धँसती जायँगी और वह मर जायगी। उसका पति उसके काले पड़ गये ओंठों को प्यार नहीं कर सकता। उसकी तपेदिक से सड़ती हड्डियाँ ठण्डी हैं और उनमें शरारे भरने की शक्ति खत्म हो गयी है।

शेफाली हँसने लगी।

आफ़ताब ने सम्हलकर कहा, "खाँसी होने पर टी० बी० ही हो जाती है, यह तुमसे किसने कहा?"

पर यह तो सच है कि शेफाली कमज़ोर है, वह पीली है, उसके जिस्म में खून नहीं, ताकत नहीं और वह रात-भर खाँसती है। उस रात भी वह खाँसती रही और आफ़ताब सुनता रहा।

दूसरी रात किसी की खाँसी की कमज़ोर आवाज़ से वहाँ की माटी की दीवारें नहीं काँपी, क्योंकि कैम्प खाली था।

*

इलेक्शन से लौटकर जब आफ़ताब आया तो पहली बार अपने मकान में उसने एकाकीपन का अनुभव किया, पहली बार उसे दोस्तों के साथ से कोई राहत और सन्तोष नहीं मिला और उसे लगने लगा कि उसके भीतर एक नयी आग जलने लगी है, एक ऐसी आग जिसकी चिनगारी शेफाली ने फूँकी थी। शेफाली ने अपने कुछ दिनों के साथ में ही, अपने दुबले-पतले और पीले जिस्म से उसे कहाँ उठाकर रख दिया था! आज शेफाली से अलग होकर आफ़ताब को जिस कमी का अनुभव हो रहा है, उस कमी को शेफाली की अपेक्षा नहीं। उसे शेफाली का जूठा जिस्म नहीं चाहिए, जो पीला है, कमज़ोर है और जिसके भीतर टी० बी० के कीड़े रेंगते हैं।

लौटते समय जब आफ़ताब ने शेफाली से मिलकर कहा कि घर पहुँचकर भी वह उसे अपने दिमाग़ से अलग नहीं कर पायेगा और कभी-कभी अवश्य उससे मिलने की सोचेगा तो जवाब में शेफाली ने उत्सुकता प्रकट नहीं की, केवल फीके स्वर में हँसकर बोली, "साँस अगर रही तो मिलना क्या कठिन बात है ?"

पर आफ़ताब उससे मिलने नहीं जा पाया। अपनी ही उलझन में उसके दो माह बीत गये। और एक दिन उसने अपने घर तार भिजवा दिया कि वह एक माह की छुट्टी लेकर शादी करने के लिए आ रहा है।

जिस दिन वह घर के लिए रवाना हो रहा था, कई बार उसने चाहा कि एक बार वह शेफाली से मिल ले, पर स्वाभिमान ने पाँव रोक दिये। वह शेफाली से क्यों मिले जब वह चाहती ही नहीं। क्यों वह अपने को पराजित करे ? बस-स्टैण्ड के लिए जाते समय उसने वह राह ही बदल ली, जिस पर शेफाली रहती थी। पर जब बस स्टैण्ड से चली और उसी राह से गुज़री तो न चाहते हुए भी धड़कते दिल से आफ़ताब ने शेफाली के मकान की ओर देखा। सामने कोई नहीं था। शेफाली के मकान के दरवाज़े भीतर से बन्द थे, सन्नाटा था और केवल आधी खिड़की खुली थी जिसमें एक मैला पर्दा हिल रहा था।

*

एक महीने की छुट्टी समाप्त होने के पहले ही आफ़ताब लौट आया। उन पन्द्रह-सत्रह दिनों में आफ़ताब की शादी भी हो गयी, सुहागरात भी और आफ़ताब ने अपनी उस दुल्हन को भी देखा, जिसे पाने के लिए उसने सब-कुछ भाग्य पर छोड़ दिया था। वह एक बाज़ी थी, जिसमें आफ़ताब हार गया।

और जब अठारह दिनों के बाद आफ़ताब फिर से शेफ़ाली के

मकान के पास आया तो उस दिन भी मकान में सन्नाटा था और दरवाज़ा बन्द था। उस दिन की तरह ही आज भी वही मैला पर्दा खिड़की पर हिल रहा था, पर खिड़की बन्द थी। धड़कते दिल से निकट आकर आफ़ताब ने आवाज़ लगायी, पर कोई जवाब नहीं मिला। पास वाले मकान से एक दस-बारह बरस के लड़के ने आकर बताया कि पिछले हफ़्ते शेफाली मर गयी।

* * *

रहीम चाचा

रहीम चाचा का स्वर सहसा तीखा और कड़ुवा होकर रात के सन्नाटे में गूँजता दूर तक फैल गया—बदज़ात कमीनी, चली क्यों नहीं जाती!

फिर एकदम घोटने वाली खाँसी में रहीम चाचा का दुखता स्वर फँस गया। कुछ देर तक लगातार उनके खोखले पड़ गये पिंजर के भीतर खाँसी का स्वर बजता रहा और फिर भीतर से बटोरकर उनके ढेर-से बलग़म के थूकने की आवाज़ आयी। एक कुहराम-सा मच गया, जिसमें चाची की भद्दी फूहड़ गालियों, सिसकियों और रोने का स्वर था और फिर गोद के सोये बच्चे के चौंककर बिलख पड़ने की आवाज़।

रहीम चाचा को कौन नहीं जानता। छोटे-बड़े सब के यहाँ उनका आना-जाना है। किसी भी उम्र की औरत उनसे पर्दा न करती और परिचित-अपरिचित किसी के यहाँ भी वह बाहर-भीतर में भेद नहीं रख पाते। कस्बे में किसी के यहाँ मीलाद हो, ऐलान सुना और रहीम चाचा ने अपना पुराना ऊनी काला कोट (जिसमें जगह-जगह छेद पड़ गये हैं और रफ़ू के निशान हैं।) पहना, आधा उधड़ गया मफ़लर लपेटा,पुरानी तुर्की टोपी, जिसका रंग लाल से बदलकर अब मटमैला

हो गया है और जिसके किनारे के लगभग एक इंच के हिस्से में तेल का रंग जमकर बैठ गया है, लगायी, दोनों हाथ सीने पर बाँधे और सामने वाले सफ़ में बैठकर सिर झुकाये और आँखें बन्द किये मौलवी साहब के नात के तरन्नुम पर हौले-हौले झूमने लगते।

किसी के यहाँ मौत होती तो ख़बर पाते ही रहीम चाचा जा पहुँचते और मृतक के दुखी सम्बन्धी के काँधे पर हाथ रख बड़े ही संयत स्वर में जीवन की निस्सारता, संसार की क्षणभंगुरता और मृत्यु की अनिवार्यता की याद दिला धीरज बँधाने लगते और भरे हुए स्वर में कहते, "भैया, रोने-धोने से क्या कुछ हाथ आयगा? आप तो समझदार हैं। यों सिर धुनकर मरहूम की रूह को क्यों तकलीफ़ पहुँचाते हैं?"

फिर स्वयं ही आने और इकट्ठे होने वाले लोगों के लिए बैठने को जाजिम डाल, दो-चार अगरबत्तियाँ जनाज़े को चारपाई के पास सुलगायेंगे और सुई-तागे लेकर कफ़न सीने बैठ जायेंगे। कफ़न सीना खत्म हुआ और गुसल कराने का तख़्ता आया तो किसी की भी प्रतीक्षा किये बिना अपने हाथों जनाज़े का गुसल करायेंगे, कफ़न पहनायेंगे और अपनी हथेलियों में कपूर-इत्र की महक और सुरमे के निशान लिये लौट जायेंगे।

फ़ातिहे के दिन यदि किसी ने रहीम चाचा का उनकी मदद और हमदर्दी के लिए शुक्रिया अदा किया तो पहले उनका लम्बा और सँकरा चेहरा, जिसमें गालों के पास सिलवटें आने लगी हैं, थोड़ा खिंचता, ओंठ एक ओर ज़रा सरकते, असमय में पड़ गयी सिलवटें थोड़ी गहरी होतीं, पेशानी पर हल्की-हल्की कई लकीरें खिंच आतीं और वह कहते, "तुम लोग किसी भले आदमी के किये का बदला इसी तरह देते हो क्या? अरे, इन्सान की मदद इन्सान नहीं तो और कौन करेगा?"

रहीम चाचा वैसे तो पैंतालिस के थे, पर वह अपनी उम्र से दस बरस अधिक लगते। कद साधारण, दुबला-पतला इकहरा शरीर, जिसमें अब अधिक हड्डियाँ ही रह गयी थीं। रंग थोड़ा साफ़ और खुला, पर अब धीरे-धीरे काला पड़ने लगा था। चेहरे का नक्शा बुरा नहीं था, पर गालों का मांस अब धँसने लगा था और सामने के दो-तीन दाँत उन्होंने तुड़वा दिये थे, क्योंकि उनमें काफ़ी दर्द होने लगा था और रहीम चाचा को उनसे बड़ी तकलीफ़ थी। दाढ़ी-मूँछों की आवश्यकता उन्होंने कभी नहीं समझी और अभी भी, जब वह खुले सिर होते, उनके बाल तरतीब से पीछे की ओर जमे होते थे, जिनमें पके-अधपके बालों के बीच अपने-आप ही पड़ गये छोटे-बड़े कई छल्ले अच्छे लगते थे।

जब कस्बा छोटा था, आबादी कम थी और पास-पड़ोस के शहरों में दिन-भर में केवल एक बस-सर्विस चला करती थी, रहीम के पिता कहीं से आकर बस गये और एक मनिहारी और किराने की दुकान खोल ली थी। दुकान चल निकली और कुछ ही वर्षों में रहीम के पिता ने काफ़ी पैसे कमाये थे। उनकी पत्नी थी और उनसे बच्चे भी थे, पर उन्होंने उस कस्बे में रहीम की माँ से दूसरी शादी कर ली थी।

रहीम अभी मुश्किल से दस के रहे होंगे कि उनके पिता उनकी माँ, सौतेली माँ और सौतेले बहन-भाई छोड़कर चल बसे। उनके चालीसवें के बाद रहीम के सौतेले बड़े भाई ने सारी जायदाद, जिसमें मकान-दुकान सभी थे, पर अपना अधिकार कर रहीम और उनकी माँ को अलग कर दिया। रहीम की माँ ने बहुत हाथ-पाँव मारे, पर कुछ हुआ नहीं।

रहीम अपनी माँ के इकलौते तो थे ही, सब से छोटे होने के कारण पिता का लाड़-प्यार भी उन्होंने बहुत पाया था। आज इस स्थिति में जो वह पहुँच गये हैं, उसके लिए अपने माँ-बाप के उस लाड़-प्यार को

कोसते हैं, जिसने उन्हें अनपढ़, अनगढ़ बनाकर दर-दर भटकने के लिए छोड़ दिया था। पढ़ाई के नाम पर उन्होंने कोई दस-बारह बार ही स्कूल की सूरत देखी। प्राइमर का पहला पृष्ठ भी नहीं उलटा और वर्ण-माला के दो-तीन अगले अक्षरों से ही परिचय प्राप्त करके उन्होंने जो पुस्तक धर दी तो फिर कभी न उठायी। उर्दू की पढ़ाई का प्रश्न इसलिए नहीं उठ पाया कि कोई स्कूल ही नहीं था। कुछ दिन उनके पिता के आग्रह पर एक मौलवी साहब ने आकर उर्दू का सिलसिला जमाने की कोशिश की, पर मौलवी साहब जब आते, प्रायः उस समय रहीम पतंग उड़ा रहे होते या गुल्ली-डंडा खेलते होते या गुलेल से परिन्दों का (जिनमें अधिकांश घर और आँगन में चहक रही गौरइये होतीं) शिकार करते अथवा आराम करते या सोते रहते। अतः मौलवी साहब ने आना बन्द कर दिया।

उस कच्ची उम्र में, जब रहीम ने अभी अपने खेलने के दिन भी पूरे नहीं किये थे, अपनी बेसहारा हो गयी माँ को लेकर अपने मामा के यहाँ चले आये। पर हमेशा कौन किसको खिलाता है। एक दिन रहीम की माँ को अपने भाई से एक मामूली झगड़े के बाद अपनी रसोई अलग कर लेनी पड़ी। उस बीच रहीम ने कहीं से फ़ोटो-फ्रेमिंग सीख ली और किसी तरह जोड़-तोड़कर एक ग्लास-कटर, एक आरी, एक हथौड़ा और कुछ आवश्यक चीज़ें ख़रीदीं और फ़ोटो-फ्रेमिंग का धन्धा शुरू कर दिया और मामा का घर छोड़कर उसी मुहल्ले में उन्होंने दो कमरे किराये पर ले लिये।

कस्बा छोटा था। शौकीनों की कमी थी। अतः धन्धा मन्दा चलता था। कभी-कभार बाहर से ट्रान्सफ़र होकर आये अफ़सर या बाबुओं के यहाँ आफ़िस-स्टाफ़-ग्रुप, फ़ेमली, गाँधी-नेहरू और अभिनेताओं तथा अभिनेत्रियों के चित्र आ जाते। बाकी समय वह पण्डित लालूराम और

हरदयाल ठाकुर की छोटी दुकानों से दो-दो आने वाली देवी-देवताओं, तीर्थ-स्थानों, दोहों-श्लोकों और कल्मे-आयतों की तस्वीरें लाकर फ्रेम किया करते थे। पर उससे बहुत बच नहीं पाता था और खाने-पीने की बड़ी तकलीफ़ और दिक्कत हो जाती थी। अतः धन्धे को साइड-बिज़नेस बनाकर, इधर-उधर से कोशिश कर-कराके उन्होंने स्थानीय सरकारी प्रेस में नम्बरिंग-मैन की नौकरी कर ली।

रहीम अब चौबीस पार कर रहे थे, अतः नौकरी आदि से थोड़ा जमकर उन्होंने शादी की बात चलवायी। उनकी माँ ने पास-पड़ोस और इधर-उधर खूब आना-जाना शुरू कर दिया और उनकी शादी की चर्चा चलाने लगीं। अक्सर रात, जब वह काम से लौटते और हाथ-मुँह धोकर खाने के लिए बैठ अपने प्रेस के मैनेजर, कम्पोज़ीटर या फिर मशीन-मैन की बातों के साथ अपनी योग्यता की बातें माँ को सुनाते कि वह दिन में कितनी किताबों में नम्बरिंग कर फेंक देते हैं, बुक-बाइंडिंग उनसे अब कैसी होती है, कभी-कभी मशीन भी वह कैसे चला लेते हैं और मैनेजर उनसे कितना प्रसन्न है तो माँ उनकी अधिकांश बातों को न समझती हुई भी हाँ-हूँ कर बीच में चर्चा छेड़ देतीं कि पास के मुहल्ले में एक लड़की है। देखने में अच्छी है और उन्हें तो वह पसन्द आ गयी है। वह उसे किस तरह देख आयीं, शादी की बात कैसे चलायी और लड़की के मिल जाने की कितनी उम्मीद है.... आदि-आदि। रहीम के मन में भले कुछ भी होता हो, वह बाहर से गम्भीर बने सुनते रहते। फिर हाथ धोकर ओंठों के एक कोने में बहुत हल्के-से मुस्कराकर चुपचाप उठ जाते।

पर खानदान को लेकर ही कोई क्या करता। अच्छे बाप के बेटे होने के बावजूद सच यह था कि रहीम अनपढ़ थे और एक बहुत मामूली नौकरी करते थे। अतएव कस्बे में उन्हें लड़की देने को कोई तैयार

नहीं हुआ। दूसरे शहर में खोज के लिए उनके पास न तो पैसे थे और न कोई ऐसा सम्बन्धी, जो उनकी शादी लगा देता! अतः एक दिन उन्होंने एक बहुत ही नीच जाति की हिन्दू लड़की को ब्याह-शादी, रस्मो-रिवाज और बाजे-गाजे के बिना ही घर ला बिठाला। कुछ दिन समाज वाले चर्चा करते रहे, फिर चुप हो गये।

उसी बरस दुर्भाग्य से कस्बे का सरकारी प्रेस वहाँ से तोड़ दिया गया और रहीम बेकार हो गये। उसके बाद छै महीने किसी तरह साथ देने के बाद एक रात उनकी बीवी उन्हें अकेले छोड़कर अपने मायके भाग गयी और फिर नहीं लौटी। तीसवें बरस में उन्होंने फिर शादी की, पर उनके भाग्य में बीवी का सुख नहीं था। पाँच साल के अन्दर ही वह भी टी० बी० से मर गयी, साथ ही माँ को भी ले गयी। कम-से-कम अब तो तीसरी बीवी के लिए वह बिलकुल तैयार नहीं थे और दुर्भाग्य को कोसे बिना उन्होंने तीन बरस और बिता दिये। पर समाज के कुछ खास लोगों के बाध्य करने पर कि सकीना एक ग़रीब परिवार की अच्छी औरत है। कुँआरी न सही, अपने पति से तलाक लेकर बैठी है, पर रहीम को निभा ले जायगी तो वह अस्वीकार नहीं कर सके और काज़ी-मौलवी तथा कुछ खास लोगों की मेहरबानी से कम-से-कम खर्च में उन्होंने सकीना से निकाह कर लिया।

सकीना पास के एक देहात की एक बहुत मामूली औरत थी। उम्र तेईस। रंग काला। चाल-ढाल ढीली-ढाली, सुस्त और आवाज़ तीखी। रहीम चालीस पर पहुँचकर एक बच्चे के पिता बने। पहली पत्नियों से कोई सन्तान नहीं थी, सो इस उम्र में बाप बनने का जो उल्लास उन्हें हुआ, वर्णनातीत है। बच्चा जब ज़रा बाहर निकालने योग्य हुआ तो उसे अपनी माँ के ज़माने के रेशमी कपड़े का [illegible]टोप पहनाकर, आँखों, पेशानी, हथेलियों और पाँवों के तलुओं में काजल लगा-

कर, गले में ढेर सारे गंडे-तावीज (जो माँ ने कभी उनके लिए तैयार करवाये थे और बड़ी मन्नतों के थे) डालकर, वह गोद में लेकर बाहर निकलते और सुबह की नर्म, रेशमी धूप में टहलते हुए हर आने-जाने वाले को (यदि उनकी ओर न देख रहे हों तो पुकारकर) आदाब-राम-राम करते हुए बच्चे के भरे-भरे गालों को एक बार ज़ोर से चट की आवाज़ के साथ चूमकर कहते, "अरे देखो, बेटा, कौन जा रहा है ? साबीतरी मौसी....वह नजमा आपा....अरे मुंशी काका को राम-राम नहीं करोगे !...."

और मुंशी काका चाहे दफ्तर जाते हों, क्षण-भर रुककर रहीम के बच्चे को गोद में लेते, दो-तीन बार प्यार करते और कहते, "रहीम भाई, तुम्हारे बुढ़ापे का सहारा और तुम्हारे खानदान का चिराग़ यह बनेगा !"

रहीम का सिलवटों-भरा, सँकरा चेहरा थोड़ा फैल जाता, पीले दाँतों की जगह खुल जाती, पलकें कई बार झपक उठतीं, छोटी-छोटी निस्तेज आँखें चमकने लगतीं और वह कहते, "कौन जाने, भैया, इसकी कमाई खाने तक क्या मैं ज़िन्दा रहूँगा ।"

"जो हो, अब तुम रहीम से रहीम चाचा तो हुए !"

बच्चा कुलदीपक हो या न हो, पर उस दिन, जब उनका प्रयत्न सफल हो गया और उन्हें स्थानीय पेट्रोल-पम्प में नौकरी मिल गयी, उन्होंने अपने बच्चे को सैकड़ों बार चूमा ।

अब अक्सर रहीम चाचा के यहाँ किसी-न-किसी बात पर झगड़ा शुरू हो जाता और देर तक बड़ा हो-हल्ला और कोलाहल मचता । झगड़े का विषय इसके सिवाय और कुछ न होता कि दूसरी ओर का गुस्सा सकीना दुधमुँहे बच्चे पर उसे पीटकर निकालती या बे-बात भी चिड़चिड़ा उठती । सकीना का तेज़ कड़ुवा और तीखा स्वर रहीम चाचा

को छेदता दूर-पास की सड़कों तक फैल जाता और रहीम चाचा क्रोध में काँपते, चीखकर फटे स्वर में सकीना को डाँटते, "कमीनी ! इतना हलक क्यों फाड़ती है ?"

और फिर वह अपनी दूसरी बीवी की सिधाई-सच्चाई, स्वभाव-आदतों और साहिष्णुता की प्रशंसा करते, अपने भाग्य को कोसते कि तक़दीर ने उनसे लछिमी-जैसी बीवी छीन इस फूहड़, भद्दी और नीच औरत का संग करा दिया, नहीं तो वह चाहे लाख ग़रीब रहे हों, क्या इस औरत के लायक थे !

तब सकीना का स्वर और तेज़ और कड़ुवा तथा कर्कश हो उठता। फूहड़ गन्दी गालियाँ बकती और ऊँचे स्वर में उलाहने देती कि वह उसके मकान का पता पूछती-पूछती तो नहीं आ गयी ! भरी महफ़िल में निकाह करके लायी गयी है। अगर वह उससे ऐसे ही ऊब उठा है तो क्यों नहीं दूसरी इन्नर की परी ले आता ! वह भी तो देखे कि कौन कलमुँही उस घर में टिकती है !

और फिर वह उन सारे लोगों के बाप-दादा (मरे और ज़िन्दा दोनों) पर कस-कसकर वज़नी-से-वज़नी गालियाँ उछालती, जिन्होंने उसके अस्वीकार करने के बावजूद उस जैसे आदमी के संग उसका भाग्य जोड़ दिया, जो दो जून सूखी रोटियाँ तक उसके आगे नहीं डाल सकता। चीख़ते-चीख़ते सकीना का हलक सूख जाता, स्वर बैठने लगता और तब वह ऊँचे स्वर में रो पड़ती और लगभग घण्टे-आध घण्टे तक लगातार लय-तान के साथ रोती रहती।

पर उस दिन, जब रहीम चाचा पहली तनख़्वाह लेकर आये, बड़ी रात गये तक रहीम चाचा के घर से उनकी और सकीना की खुलकर हँसने की आवाज़ फैल रही थी। रहीम चाचा ने हँसते हुए बड़े मीठे स्वर में स्नेह-भरी झिड़की दी और बहुत आहिस्ते से समझाते हुए

सकीना को दोष दे डाला कि उसके ही पागलपन और नासमझी के कारण उन्हें क्रोध हो आता है और वह अपने को न सम्हाल पा उसे बुरा-भला कह डालते हैं, वर्ना ओछी और छोटी जात वालों की तरह दिन-रात लड़ाई-झगड़ा करना उन्हें क्या अच्छा लगता है !

सकीना ने अपने स्वभाव के विपरीत उस दिन सारे दोष स्वीकार कर लिये और संकोच में झुककर हल्की-सी हँसी के साथ जैसे क्षमा माँग ली। रहीम चाचा ने सकीना को बड़ी देर तक अपने सुखद सपने सुनाये कि पहले महीने की तनख्वाह से कुछ बचाकर वह सकीना के लिए कैसी और कौन-सी साड़ी खरीदना चाहते हैं, बच्चे को नीली रेशमी कमीज़ में किलकते देखने की उन्हें कितनी हसरत है और ठण्ड के दिनों में सकीना का केवल एक पतली चादर में ठिठुरना देखकर उन्हें कितनी कोफ्त होती है।

सकीना के काले और सूख गये गालों में खून का हल्का उबाल आया, ओंठ कई बार दाँतों-तले दबे, मुस्कराहट की रेखा ओंठों के नीचे उभरी और उल्लास को दबाते हुए उसने मीठी झिड़की-भरे स्वर में कहा कि बच्चे का क्या है, घर में ही रहता है। कम्बल लाने की अभी कोई खास ज़रूरत नहीं, क्योंकि ठण्ड अभी दूर है और उसके लिए साड़ी कभी फिर बाद में भी खरीदी जा सकती है। सब से पहले उन्हें अपने लिए कमीज़ सिला लेनी चाहिए, क्योकि उनकी कमीज़ फट गयी है। उन्हें अब नौकरी में छोटे-बड़ों के साथ उठना बैठना पड़ेगा।

रहीम चाचा ने थोड़ी देर के विरोध के बाद हँसकर अपनी हार मान ली।

उसके बाद छै-सात महीने ऐसे आहट-हीन बीत गये कि स्वयं रहीम चाचा को भी उसका अहसास नहीं हो पाया। रहीम चाचा बड़ी सुबह नाश्ता करके निकल पड़ते और दोपहर के एक-दो बजे लौटते। खाने

के बाद दोपहर को जो जाते तो फिर रात दस के पहले नहीं लौट पाते। दिन-भर के काम से चूर-चूर हो गया जिस्म ढकेलते जब वह घर आते तो बच्चा सो गया होता। रहीम चाचा से अकेले खाया न जाता। सकीना के मना करते रहने पर भी वह बच्चे को सोते में प्यार करते, जगाते और साथ बैठाकर उससे खेलते-हँसते कोई पौन घण्टे में खाना खाते। खाना हुआ तो कुछ देर बर्तनों की उठा-पटक के स्वर में सकीना की हँसी और गुनगुनाहट के साथ रहीम चाचा की हँसी का स्वर तैरता।

उस दिन रहीम चाचा नौ बजे सुबह ही वापस आ गये। उनका चेहरा बड़ा सूखा, शान्त और निर्विकार हो रहा था और गालों की सिलवटें ज़्यादा झुकती-लटकती दिख रही थीं। पता चला कि उनकी नौकरी छूट गयी।

नौकरी छूटने का कारण बाद में मालूम हुआ। उन पर चोरी का झूठा इल्ज़ाम लगाया गया था। दरअसल उनसे वहाँ के दूसरे लोग उनकी सच्चाई से जलते थे और उनके खिलाफ़ साज़िश की गयी थी। नहीं तो एक गैलन मिट्टी के तेल के लिए उनकी नीयत क्या ख़राब हो सकती थी!

कुछ दिनों तक फ़ोटो-फ्रेमिंग से दो जून दाल-रोटी चली। पहले रहीम चाचा कस्बे में अकेले ही फ्रेमिंग का काम करते थे, पर अब कस्बे की आबादी दिन-ब-दिन बढ़ने लगी थी और उनके देखते-देखते ही सदर बाज़ार में दो दुकानें और खुल गयीं। रहीम चाचा के पास रोज़गार ठीक ढंग से करने के लिए पूँजी न थी। उनकी अपनी कोई दुकान न थी। जो भी काम मिल जाता था, वह घर लाकर स्थानीय बाज़ार से काँच-फ्रेम ख़रीदकर करते थे, जब कि दूसरी दुकानों वाले दूसरे शहरों से पचासों रुपये के थोक काँच और फ्रेम मँगाकर काम करते थे। इस-

लिए उनसे होड़ करना रहीम चाचा के लिए असम्भव था। बाज़ार के बीच ढेरों देवी-देवताओं, नेताओं-महापुरुषों और अभिनेता-अभिनेत्रियों के सुन्दर, आकर्षक चित्रों से सजी शीशों में चमकती उन दुकानों के आगे धीरे-धीरे रहीम चाचा की फ़ोटो-फ्रेमिंग को लोग भूल बैठे। और इस तरह रुपये-आठ आने का जो आसरा था, वह भी जाता रहा।

इस बीच नौकरी के लिए उन्होंने कई दरख़्वास्तें दीं। रोज़ किसी-न-किसी आफ़िस में वह एकाध दरख़्वास्त दे आते। दरख़्वास्त लेकर जब वह पहुँचते तो वही काला कोट होता, टख़नों से ऊँचा उटंग पैजामा और वही तेल-जमी पुरानी टोपी, जिसे साहब के कमरे में पहुँचने के पहले ज़रा ठीक से लगा लेते, सामने की सिकुड़ गयी कमीज़ खींचते और सलाम कर, दरख़्वास्त थमा, अदब से एक कोने में खड़े हो जाते। साहब उनकी ओर देखें या न देखें, पर जब वह उस दरख़्वास्त में कुछ लिखकर किसी बाबू के पास भिजवा देते तो रहीम चाचा भीतर तक भीगकर जैसे बहते-से स्वर में सलाम करते और ओंठों के कोने में मुस्कराते हुए उस बाबू के पास पहुँचते, जिसकी मेज़ पर उनकी नौकरी और भूख की भीख दबी होती। पर जब थोड़ी देर की प्रतीक्षा के बाद बाबू बताते कि अभी कोई जगह नहीं तो वह अपनी धुँधला गयी आँखों को नीचे कर, गर्दन झुका, उतरे चेहरे और भारी कदमों से लौट आते।

वैसे तो रहीम चाचा का स्वास्थ्य कभी अच्छा नहीं रहा। पर नौकरी छूटने के बाद वह बहुत कमज़ोर हो गये। कुछ महीने नौकरी की तलाश में उन्होंने बहुत दौड़-धूप की और बीमार हो गये। सकीना का स्वभाव और भी चिड़चिड़ा हो गया। उसकी आवाज़ के तीखेपन में अब ज़हर समा गया था, जिसे रहीम चाचा खाट पर पड़े-पड़े अपनी लम्बी-लम्बी साँसों में घोलकर पिया करते।

अब बड़ी रात गये तक रहीम चाचा के घर में शोर उठता रहता

है। उसमें सकीना के तीखे ताने, कड़वे-उलाहने, अकारण ही पीट देने से बच्चे के रोने-चिल्लाने का स्वर और रहीम चाचा का थक गया मौन घुला-मिला होता है। अब रहीम चाचा में विरोध करने की शक्ति नहीं रह गयी है। कुछ कहने की कोशिश करते तो साँस भर जाती, खाँसने लगते, फिर अपनी थक गयी पसलियों को थाम वहीं खाट के एक कोने में लुढ़क पड़ते और भीतर से बटोरकर ढेर-सा बलग़म वहीं थूक, अपनी ढीली पड़ गयी गर्दन को तकिये के एक कोने में डाल, बड़े दुखते, कराहते और थके स्वर में पुकार उठते हैं, "या खुदा, रहम कर!"

एक दिन बड़ा खिजलाया, उकताया और दुखा हुआ रुदन, जो भीतर तक खुरच-खुरच डालता है और मन नहीं सम्हलता, चलता रहा। उस दिन उनके यहाँ दिन-भर से फ़ाका था। रहीम चाचा के मुँह में बूँद-भर पानी नहीं गया था। सकीना भी दिन-भर की भूखी थी। बच्चे के लिए दूध नहीं उतर रहा था। इसलिए बच्चे के रोने के स्वर में घुला-मिला सकीना का निस्सहाय रुदन मन को चीरता था।

एक पड़ोसी कुछ रोटियाँ और चावल लिये पहुँचा तो रहीम चाचा खाट से लगे पड़े थे। उनका दुबला-पतला चेहरा बड़ा निस्तेज पीला और डरावना हो गया था। कई दिनों की बढ़ गयी पकी-अधपकी हजामत और हड्डियों में धँसी आँखें। उन्होंने बड़े दयनीय ढंग से उसकी ओर देखा, फिर मुड़कर अपने पीछे खड़ी सकीना को देखते रहे। क्षण-भर सकीना वहीं खड़ी अपने आँसू पोंछती रही। फिर उसके आगे एक बर्तन रख दिया। उस बर्तन में चावल और रोटियाँ रखकर उसने रहीम चाचा की ओर देखा। रहीम चाचा ने क्षण-काल के लिए अपनी गर्दन घुमाकर बर्तन पर पड़े चावल और रोटियों की ओर ताका किया, फिर अपनी गर्दन सीधी कर बड़ी पीड़ा और दर्द के साथ अपनी पलकें मूँद लीं। उनकी आँखों के कोटरों के पास उभरी हड्डियों पर आँसू

चमकने लगे।

उसके बाद की दो रातें बड़ी शान्त और चुपचाप बीतीं, केवल रात के सुनसान में रहीम चाचा के खाँस पड़ने की आवाज़ सहसा फैल उठती, और कुछ नहीं।

तीसरी रात के अन्तिम प्रहर हठात् ही सकीना बड़ी ज़ोर से बिलख उठी और बच्चा रोने लगा।

लोगों में जगरम हो गयी। रहीम चाचा मर गये थे।

सुबह उनके कफ़न के लिए लोग चन्दा इकट्ठा कर रहे रहे थे।

* * *

जनाज़े का फूल

असलम के चेहरे से आँखें हटाकर भाभी खिड़की से बाहर अँधेरे में देखने लगीं। पर्दे को हिलाती हुई बाहर की भीगी, ठण्डी बरसाती हवा आकर कमरे में फैल गयी। मेज़ पर रखे लैम्प की लौ एक बार सिहरकर हिल उठी। कमरे में फैला रोशनी का दायरा एक बार सिमटकर फैला और फैलकर सिमट गया। मसहरी की नाज़ुक और महीन जाली एक बार काँपी और थम गयी। भाभी का महीन दुपट्टा सिर से सरका कि असलम ने आगे झुककर, कुहनियाँ घुटनों पर टिका, अपनी हथेलियों के बीच में ठोड़ी रखकर कहा, "फिर, भाभी?"

*

इम्तिहान के दिनों में ही असलम को रहमान भाई का ख़त मिला। उसके ख़त न लिखने की शिकायत करते हुए रहमान भाई ने ख़बर दी कि उनकी शादी फलाँ की लड़की से फलाँ तारीख़ को फलाँ शहर में होने जा रही है, इसलिए असलम ख़त देखते ही चला आये। आगे उन्होंने अपनी मजबूरी बतायी थी कि क्यों उन्हें न चाहते हुए भी

शादी करनी पड़ रही है, हालाँकि शादी के लिए कम-से-कम अभी तो वे बिलकुल ही तैयार नहीं थे। उनसे अब पाँच-छै साल का बच्चा सम्हलता नहीं, उसकी पूरी देख-रेख वे कर नहीं सकते, क्योंकि उन्हें जंगल-जंगल भटकना पड़ता है। सब लोग एक स्वर से कहने लगे थे कि मरने वाले के साथ मरा तो नहीं जा सकता, रहमान को अपने लिए नहीं तो कम-से-कम बच्चे के लिए सोचना चाहिए।....आखिर में उन्होंने बार-बार आग्रह किया था कि जैसे भी हो असलम का पहुँचना ज़रूरी है और वे कोई भी बहाना न सुनेंगे।

रहमान भाई असलम के दूर के रिश्ते के मामूज़ाद भाई होते थे। पर चूँकि अब उनका सिवाय असलम के घराने के और कोई नहीं रह गया था, वे असलम के नज़दीकी रिश्तेदारों से भी ज़्यादा हमदर्द और अपने हो गये थे। शादी की बात सुनकर असलम को अच्छा ही लगा। रहमान की पहली बीवी एक साल पहले मर गयी तो असलम के लिए भी भाभी का स्थान रिक्त हो गया। भाभी असलम को बहुत चाहती थीं और असलम भी उन्हें पाकर कम प्रसन्न नहीं था, हालाँकि असलम के खयाल में जैसी भाभी होनी चाहिए थी, वैसी वह न थीं, उनसे भावुक असलम की कोई उम्मीदें पूरी न हुई थीं। इसलिए नयी भाभी के आने की बात सुनकर उसे अच्छा ही लगा। उस दिन बड़ी रात गये तक असलम नयी भाभी के विषय में सोचता रहा, उसके चेहरे के नक्शे अपने ज़ेहन में उतारता रहा कि वह उनसे मिलकर क्या कहेगा, कैसी बातें करेगा और कैसी चुटकियाँ लेगा, आदि।....पर कमबख्त इम्तिहान की वजह से असलम जा न सका। उसने चिढ़कर मन-ही-मन इम्तिहान को कोसा और रहमान भाई को भी कोसने से न रह सका, जिन्होंने इम्तिहान के दिनों में ही अपनी शादी रखी।

इम्तिहान के बाद असलम तुरन्त चल पड़ा, एक नयी उमंग लिये

वह घर पहुँचा तो छोटी बहन नजमा ने शादी की सारी बातें बतायीं कि बारात में कितने लोग थे, रहमान भाई ने घोड़े पर बारात निकालने से क्यों इन्कार कर दिया और मोटर में बारात निकली तो कैसी लगी। रज़िया ने कितने सुहागगीत गाये, शमसुन बाजी ने कौन-सा ग़रारा पहना था और कैसा अलगा डाल रखा था और उसे देखकर कौन जला और किसने क्या कहा। रहमान भाई ने किसे-किसे साड़ियाँ दीं और नजमा ने अपनी सब्ज़ रंग की साड़ी के लिए कौन-सा ब्लाउज़ छाँटा। असलम यह सब न चाहते हुए भी सुनता रहा कि शायद नजमा भाभी के विषय में कुछ कहेगी, पर रज़िया, सुलताना और शमसुन बाजी की बातें बढ़ती देख, ऊबकर उसने पूछा, "भाभी कैसी हैं, नजमा?"

नजमा ने पूरे सन्तोष के साथ बताया कि कितनी अच्छी हैं, कैसी बातें करती हैं, रंग कितना गोरा है, हँसी कितनी दिलकश है और स्वभाव कितना मिलनसार है।....

दूसरे दिन सुबह-ही-सुबह असलम ने रहमान भाई को ख़बर भिजवा दी कि वह भाभी का देखने आ रहा है। थोड़ी देर बाद ही रहमान भाई स्वयं असलम को लेने आ गये। हाथों में मेंहदी के निशान, उँगली में नयी निकाही अँगूठी और पाँवों में चरमराता पम्प-शू पहने रहमान जब असलम के कमरे में आ बैठे तो असलम ने आगे बढ़कर काफ़ी ज़ोरों से हाथ मिलाया। रहमान ने हँसते हुए असलम के काँधों पर हाथ रखकर पूछा, "कैसे हो, असलम?"

"जी अच्छा हूँ, आप कैसे हैं, भाई साहब?"

"मैं तो काफ़ी खुश हूँ, असलम!"

असलम ने जल्दी-जल्दी बालों में कंघी फेरी, पाँवों में चप्पलें डालीं और रहमान भाई के साथ निकल पड़ा। रास्ते में असलम के बग़ैर पूछे ही रहमान भाई ने भाभी के विषय में सब-कुछ बता डाला

कि वे शादी करके कितने खुश हैं। भला उन्होंने इतनी अच्छी लड़की की कहाँ उम्मीद की थी! जैसा खानदान वैसी लड़की। स्वभाव कितना अच्छा है! सीने-पिरोने में उसे कितनी महारत हासिल है, किताबों से उसे कितनी मुहब्बत है और आते ही उसने कौन-कौन-से रिसाले मँगा डाले। असलम इस बीच अपने मन में भाभी के चेहरे का नक्श खींचता रहा।

घर पहुँचकर असलम ने जब भाभी के कमरे की ओर क़दम उठाया तो उसके दरवाज़े पर टँगा नीला पर्दा हिला और पीछे से कोई फुर्ती से हट गया। असलम झिझका तो रहमान ने उसका हाथ पकड़कर कहा, "चलो असलम, शरमाते क्यों हो?" और रहमान भाई लगभग उसे खींचते-से कमरे के अन्दर ले गये।

रहमान भाई का वह कमरा आज कुछ और ही बना हुआ था। एक ओर पलंग लगा था जिस पर श्वेत-उजली चादर बिछी थी। उसके बाज़ू में एक तिपाई रखी थी। पास ही एक मेज़ थी, जिस पर खूबसूरत मेज़पोश पड़ा था, और उस पर कुछ नये-पुराने उर्दू के रिसाले और किताबें रखी थीं। दीवारों पर कुछ तस्वीरें लगी थीं। हर चीज़ क़रीने से सजी थी।

रहमान भाई ने पलंग पर बैठते हुए कहा, "असलम, यह हमारा अपना कमरा है।"

और असलम की आँखें फैल गयीं, यह रहमान भाई का कमरा है! तस्वीरें, कुर्सी, मेज़, रिसाले और किताबें—रहमान भाई को यह अचानक रिसालों और किताबों से कब दिलचस्पी हो गयी। उन्हें उर्दू नहीं आती। पहले इस कमरे के दरवाज़ों में पर्दे नहीं थे। खिड़कियाँ बन्द रहती थीं, दीवारें मैली और नंगी, कहीं कोई तस्वीर नहीं। मेज़ और कुर्सियों की उन्हें कोई आवश्यकता नहीं थी। पलंग की जगह बाध की

चारपाई, मेज़ की जगह चावल-दाल के पीपे और कुर्सियों की जगह नौकरानी शाम को बड़ी टोकनियों में मुर्गियाँ ढँक देती थी।

असलम मेज़ पर के रिसाले उलटने लगा। नये-पुराने रिसाले। रंग-बिरंगे कवर। नज़्में। ग़ज़लें। रंगीन अफ़साने और दर्दीले गीत। एक कोरी कापी में अँग्रेज़ी के अक्षर, आगे के पृष्ठों में कुछ अँग्रेज़ी के शब्द और टेढ़े-मेढ़े अक्षरों में लिखने की कोशिश। पर उसके बाद अँग्रेज़ी रुक गयी थी और उर्दू के इधर-उधर के शेर लिखे हुए थे। एक शेर पर असलम की निगाह पड़ी, जो कई जगह लिखा गया था, कापी के अगले-पिछले पृष्ठों पर, बीच के कोरे कागज़ों पर, पुराने रिसालों के कवर पर और पलंग के बगल वाली दीवार पर :

मेरी ज़िन्दगी भी कोई ज़िन्दगी है,
न पहले से दिन हैं न कोई ख़ुशी है !

रहमान भाई ने हँसकर कहा, "लो भाई असलम, तुम तो आकर शरमा गये। ख़बर तो बड़ी लम्बी भिजवायी थी कि नयी भाभी को देखने आ रहे हो...."

असलम सिर झुकाकर हँसने लगा। फिर बोला, "भाई साहब, भाभी से हमारा आदाब कह दें।"

रहमान ने कहा, "वाह, अब तुम्हारा पैग़ाम मैं लेकर जाऊँ ? न भई, अगर तुम नहीं जा सकते तो मैं उन्हें ही भेजता हूँ। जो भी कहना-सुनना हो, कहो-सुनो !"

रहमान भाई उठकर चले गये। अन्दर वाले कमरे से उनकी हँस-हँसकर बोलने की आवाज़ आ रही थी। थोड़ी देर के बाद रहमान भाई ने आकर पलंग के पास ही एक चटाई बिछा दी और नौकरानी से दस्तरख़ान मँगवाकर कहा, "आज सुबह का नाश्ता तो नयी भाभी के हाथ का करो !"

असलम मुस्कराकर चटाई पर बैठ गया। दस्तरखान बिछा। चीनी की सफ़ेद प्लेटें आयीं और नीचे सिर किये असलम ने देखा, साड़ी की हल्की-सी सरसराहट हुई, एक बड़ी नाज़ुक और मनमोहक खुशबू आयी, चूड़ियों की सुकुमार-सी खनक हुई और एक बहुत ही गोरा-मांसल हाथ काँच की एक तश्तरी लिये उसके आगे रुक गया और सहसा असलम का हृदय धड़कने लगा। भाभी की कलाई कितनी गोरी और कितनी खूबसूरत थी! उसमें हरी-हरी सुहाग की चूड़ियाँ थीं। असलम के जी में आया कि वह अपना सिर उठाकर भाभी को देख ले, पर उसका जी धड़कता रहा और साहस करने पर भी वह आँखें न उठा सका और जब तक वह देखने के विषय में सोचे कि भाभी के हाथ हटे और वे चली गयीं।

असलम को मीठी चीज़ें पसन्द नहीं, वह चाहने पर भी खा नहीं सकता, अतः मीठी चीज़ के बदले कोई नमकीन लेकर भाभी फिर आयीं।

असलम ने खाने के पहले सिर उठाया, पूरे साहस के साथ आँखें उठायीं और भाभी के चेहरे की ओर उड़ती नज़र डालकर सामने की दीवार पर की तस्वीर में अपनी आँखें अटका दीं।

असलम का हृदय कहीं से टूट-फूट गया। भाभी बहुत सुन्दर थीं, बहुत, उसकी कल्पना से भी अधिक। उसकी भाभी कोई बड़ी नहीं, एक अठारह-बीस बरस की लड़की थी। असलम को प्रसन्नता नहीं हुई। उसे भाभी का सुन्दर होना ज़रा भी अच्छा न लगा। उसने रहमान भाई की ओर देखा।

रहमान पैंतीस-चालीस बरस का ढीले-ढाले जिस्म का आदमी है। क़द छोटा है। रंग गहरा साँवला है और आँखें हमेशा ही लाल बनी रहती हैं। अस्सी रुपयों का फ़ारेस्टर, जो जंगल-जंगल भटकता है, गाँव-गाँव की खाक छानता है और बदले में पीपों चावल, मुर्ग़ियाँ और

शराब मिलती है। वह गाँव की पहाड़ी, भोली, नंगे जिस्म वाली लड़कियों को फँसाता है....उसी रहमान ने आज एक अठारह-बीस बरस की लड़की से शादी की है....और उस लड़की ने इस बेमेल विवाह की कोई शिकायत किये बग़ैर उसका कमरा सजाया है, तस्वीरें लगायी हैं, पलंग बिछाया है....उसने इस मोटे जिस्म वाले रहमान के बीड़ी से काले पड़े ओंठों को....

भाभी पान लेकर आयीं तो असलम ने एक पान मुँह में रखा, फिर उन्हें आदाब किये बिना ही, एक बार रहमान की ओर देखकर हँसा और बाहर निकल आया।

*

दो महीने बाद असलम कालेज चला आया। चाहे भाभी में संकोच रहा हो या असलम में, असलम दो महीनों में भी भाभी से घुल-मिल न सका। जब कभी भी भाभी असलम के घर आयी, असलम अपने कमरे से बाहर नहीं निकला।

जब दीवाली की छुट्टियों में असलम घर आया तो उन दिनों भाभी असलम के घर पर ही थीं। रहमान भाई का ट्रान्सफ़र बस्तर के दक्षिण एक जंगली तहसील बीजापुर में हो गया था। रहमान भाई ने भाभी को अपने साथ वहाँ ले जाना ठीक न समझा था।

नजमा पन्द्रह दिन पहले आपा के यहाँ चली गयी थी। उसके न होने से असलम को बड़ी उलझन हुई। स्वभाव से असलम लापरवाह था। नजमा ही घर में उसकी ज़रूरत की चीज़ों की चिन्ता रखती थी। वह सोच ही रहा था कि अब कैसे काम चलेगा कि भाभी ने स्वयं उसके अनजाने ही नजमा का पूरा काम सम्हाल लिया। असलम को अपने कमरे में पानी मिल जाता। उसकी किताबें यथास्थान जमा दी

जातीं। शेविंग-सेट ढूँढ़ने की आवश्यकता नहीं पड़ती। पढ़ता-पढ़ता अगर वह सो जाता तो उसका चश्मा अलग करके केस में बन्द कर दिया जाता।

कुछ ही दिनों में असलम का संकोच मिट गया और फिर तो भाभी के आगे वह इस तरह खुल गया कि घण्टों बातें करने लगा, हँसने लगा, अपना दिल खोलने लगा....असलम के साथ मदरसे में कितनी लड़कियाँ पढ़ती थीं....उनमें ख़ातून कैसी थी....बेगम उससे कितना चिढ़ती थी....ज़हीरा कितनी बातें करती थी और रुख़साना ? उसकी ज़िन्दगी की वह पहली लड़की, जो उससे बेहद हमदर्दी रखती थी और उसकी झिड़कियाँ खाकर भी हँसती थी। असलम मौलवी साहब से पिट न जाय, इस डर से उसके अधूरे काम कर देती और सारी दूसरी लड़कियों की शिकायतें मोल लेती कि वह असलम-जैसे लड़के का काम करती है। पर असलम से नाराज़ होना शायद उसने सीखा ही नहीं था। और कभी-कभी पिटकर भी सुबह जब वह मदरसा आती तो किस तरह अपनी कापी में आम की सूखी खटाइयाँ छिपाकर असलम की ओर सरका देती थी।....ख़ातून-जैसी मग़रूर लड़की की शादी कितने मामूली से लड़के से हो गयी....बेगम ने एक मामूली पान वाले से कैसे रोमाँस लड़ाया....ज़हीरा की ज़िन्दगी कितनी दर्दनाक है....रुख़साना की शादी कितने अच्छे लड़के से हो गयी और आज उसके कितने बच्चे हैं।....

और एक दिन इन बातों का सिलसिला अचानक टूट गया। रहमान भाई भाभी को लेने आ गये और भाभी दो दिनों के बाद चली गयी।

लगभग एक हफ़्ते तक अकेले कमरे में किताबें चाटने के बाद असलम भी कालेज चला आया। छुट्टियाँ समाप्त हो गयी थीं।

*

.कालेज में असलम को भाभी का एक खत मिला। लिखा था :

भाई असलम,

तस्लीम !

शायद तुम्हें उम्मीद न हो कि मैं तुम्हें खत लिखूँगी। पर आज जब मैं तुम्हें लिख रही हूँ तो खुद भी यह नहीं समझ पा रही हूँ कि अचानक तुम्हें याद करने कैसे बैठ गयी हूँ। इसकी एक वजह शायद यह हो कि तुम्हारे पास से लौटने के बाद कुछ बातें मेरे ज़ेहन में अटक गयी हैं और उनका बोझ उठाना मेरे लिए मुश्किल हो रहा है। फिर सोचती हूँ, पता नहीं मैं वह सब लिख भी पाऊँगी या नहीं। अगर न लिख सकी तो मैं उस घड़ी का इन्तज़ार करूँगी, जब तुमसे रू-ब-रू बातें कर सकूँ। अबकी छुट्टियों में तुम बीजापुर ज़रूर आओ। हालाँकि ऐसी जगह में मेरा खुद दम घुट रहा है, फिर भी मैं तुम्हें यहाँ बुला रही हूँ। यहाँ मुझे एक पल को चैन नहीं। चारों तरफ़ ऊँची-ऊँची पहाड़ियों और घाटियों से घिरी, उजाड़-सी यह तहसील है। गिने-चुने दस-पन्द्रह मकान हैं। यहाँ के लोग निपट जंगली ·हैं। ऐसे लोग मैंने अपनी ज़िन्दगी में कभी नहीं देखे थे। नंगे, अधनंगे और उजड्ड!

यहाँ हफ्ते में दो-तीन खून होते हैं। बाप बेटे को मार देता है। बीवी खाविन्द को जान से मार डालने में नहीं हिचकती। माँ अपने बच्चे को मार डालती है, यह भी सुना है। मुहब्बत किसे कहते हैं, शायद ये लोग नहीं जानते। सोचती हूँ, ऐसे माहौल में मैं कितने दिन रह पाऊँगी। कभी-कभी तो मुझे लगता है, असलम, जैसे मैंने कोई बहुत बड़ा गुनाह किया था, जिसकी सज़ा मुझे मिल रही है। उस औरत में, जो किसी का खून करके कालेपानी की सज़ा भुगतती है, और मुझमें क्या फ़र्क है, बताओ तो! यहाँ महीने में मैं लगभग २५ दिन अकेली ही रहती हूँ। वह दौरे पर रहते हैं। यहाँ अपनी तनहाई और बीती

बातों को लेकर परेशान होने के सिवाय मेरे पास क्या है ?

तुमने उस दिन शेर के बारे में, जो कि मेरी हर कापी, किताब और दीवार पर लिखा था, पूछा था, 'तुम्हें क्या यह ज़्यादा पसन्द है, भाभी ?' मैंने झूठमूठ ही सिर हिलाकर टालते हुए कहा था, 'नहीं तो, योंही लिख डाला है ।' पर शायद तुम्हें मेरी बात का एतबार नहीं आया था और तुमने हँसते हुए कहा था कि जो बात बार-बार हमारे दिमाग़ में गूँजती है, उसे ही हम जाने और अनजाने में काग़ज़ों पर, दीवारों पर या जहाँ कहीं भी हुआ, लिख दिया करते हैं । तुम्हारा अन्दाज़ ग़लत नहीं था । शायद वे कुछ अशआर, जो मैंने लिख छोड़े हैं, मेरे जज़बात की तर्जुमानी करते हों ।....तुम जब मेरे पास आओगे तो....

तुम्हारी लापरवाही देखकर ही एक दिन मैंने तुमसे तुम्हारी शादी के बारे में बात करते हुए कहा था कि पता नहीं तुम्हें ऐसी बीवी मिल भी पाती है या नहीं, जो तुम्हें सम्हाल सके । उसके जवाब में तुमने हँसकर कहा था, 'जब तक तुम्हें मेरे-जैसी कोई लड़की नहीं मिलती, तुम शादी ही नहीं करोगे । इस पर पता नहीं मुझे क्या सूझा कि मैंने कह दिया था, 'क्यों असलम, तुम मुझे ही तो नहीं चाहते ?' और तुम्हारा चेहरा उतर गया था, तुम पीले पड़ गये थे । तब माफ़ी माँगकर मैंने अपनी बात लौटा ली थी । उस वक्त शायद तुमने सोचा होगा कि मैं कितनी ओछी हूँ, है न ? पर मैं तुमसे केवल एक सवाल पूछूँगी, अपनी सारी बातें खोलकर रख देने के बाद मेरा तुमसे केवल एक ही सवाल होगा, तुम्हें मेरे-जैसी लड़की अब भी चाहिए क्या ? यदि चाहिए तो मैं उससे ही तुम्हारी शादी करा दूँगी ।

नहीं, असलम, तुम मत कहना कि तुम्हें मेरे-जैसी ही लड़की चाहिए और कोई नहीं ! तुम्हें तो पहली बहार की पहली सुबह की मासूम

कली चाहिए। और आयशा—मैं ? एक जनाज़े का फूल, जिसकी सुर्ख़ी किरनों की परियों ने छीन ली, जिसके दामन के शबनम बादलों ने पी लिये और जिसे मुर्दे के कफ़न पर रख दिया गया है। मेरी महक कफ़न के लिए और ख़ूबसूरती जनाज़े के लिए है, जिसे धूल भी मिलेगी तो क़ब्रिस्तान की!

ख़ैर, इन सब बातों को जाने दो। तुम मुझे खबर करो कि तुम कब आ रहे हो। ज़्यादा क्या लिखूँ। शायद ख़त लम्बा हो गया।

तुम्हारी भाभी
आयशा

पत्र एक ओर रखकर असलम चारपाई पर लेट गया। शाम गहरी होने लगी थी और कमरे में अँधेरा फैलने लगा था। उसने आँखें बन्द कर लीं।....अगली छुट्टियाँ सात महीने बाद मिलेंगी, सात महीने तक हर दिन भाभी की ये बातें उसके दिमाग़ में गूँजेंगी। वह व्याकुल हो-होकर उस दिन की प्रतीक्षा करेगा, जब भाभी मिलेंगी और शायद फिर पूछेंगी, अब भी तुम्हें मेरे-जैसी लड़की चाहिए ?

इसी समय असलम का साथी विजय कमरे में आया और लाइट जलाकर कपड़े बदलने लगा। बाज़ू वाले कमरे में दो-तीन फ़ोर्थ ईयर के लड़के किसी नीरस विषय पर बहस कर रहे थे। बरामदे में से खेल-कर लौटे लड़के शोर मचा रहे थे। विजय ने पास आकर असलम की पेशानी छुई और मीठे स्वर में कहा, "क्या अच्छा नहीं लग रहा है ?"

असलम उठ बैठा। पेशानी पर रखी विजय की हथेली छूकर उसने कहा, "विजू, कल मैं जा रहा हूँ।"

"क्यों, कहाँ ?"

"घर। शायद दस-पन्द्रह दिन में लौटूँगा। मेरी छुट्टी की अर्ज़ी दे देना।"

"क्या कोई बीमार है ?"

"आँ....हाँ। मेरी भाभी बीमार है।"

विजय ने तब आश्वासन दिलाया कि वह बिलकुल निश्चिन्त होकर चला चाय, अर्ज़ी दे देगा।

विजय के जाने के बाद असलम फिर लेट गया।....घाटियों और पहाड़ियों से घिरा बीजापुर, जहाँ जंगली लोग रहते हैं, एक दूसरे का खून करते हैं और शराब पीकर नाचते हैं....

करवट बदलकर उसने आँखें मूँद लीं।

*

जब असलम बीजापुर पहुँचा तो रात के ग्यारह बज रहे थे। अँधेरी रात ऊँची-ऊँची पहाड़ियों को अपने आग़ोश में लिये गहरी घाटियों में सो रही थी। चारों ओर फैले गम्भीर और डरावने सन्नाटे में झींगुरों का स्वर गूँज रहा था। असलम को लगा, जैसे अफ्रीका के किसी जंगल में उसे उतार दिया गया हो। अपने एक हम-सफ़र से, जो उसके साथ ही बीजापुर में उतर रहा था, उसने पूछा था तो उस आदमी ने हँसकर बताया था कि वह बीजापुर में पिछले सात बरसों से रह रहा है और बीजापुर के कण-कण से परिचित है।

होलडाल और सूटकेस हाथ में लिये असलम उतर पड़ा। साथ के आदमी के पास बहुत-सा सामान था। उसके सामान देखकर असलम ने अनुमान लगाया कि वह कोई टुटपुँजिया व्यापारी है, जो शहर से सामान लाकर बीजापुर में दुगुने-तिगुने दाम वसूल करता है और जंगल में पैसों की इमारत खड़ी करता है।

उस अँधेरी रात में केवल दो मुसाफ़िरों को उतारकर गाड़ी जब सन्नाटे को चीरती खो गयी तो उस सुनसान-से वातावरण में एक

स्वर गूँजा और धीरे-धीरे घटता-घटता डूब गया। असलम ने अन्धकार में डूबे बीजापुर पर आँखें दौड़ायीं। कुछ नहीं, केवल काला-काला पर्दा।....यहाँ के लोग जंगली हैं, ये लोग प्यार-मुहब्बत नहीं जानते हफ्ते में दो-तीन खून कोई बड़ी बात नहीं।....असलम सिहर उठा

साथ वाले आदमी ने अपने चारों ओर सामान लादकर असलम से पूछा, "क्यों, चलेंगे नहीं क्या?"

असलम ने होलडाल उठाया और चल पड़ा। रास्ते में उस व्यक्ति ने असलम से पूरी जानकरी ले ली कि वह किसके यहाँ आया है, क्यों आया है और कब तक लौटेगा। जब तक कि रहमान भाई का क्वार्टर नहीं आ गया, साथी पहले बीजापुर, उसके लोगों, उनके रहन-सहन के बारे में और फिर अपने व्यापार के बारे में बताता रहा। उसने यह भी बताया कि रहमान साहब को भी वह सामान देता है।

जब क्वार्टर आया तो उस व्यक्ति ने विदा ली। असलम ने तकलीफ़ के लिए उससे माफ़ी माँगी और क्वार्टर की ओर बढ़ा। कोई दस मिनट तक दरवाज़ा खटखटाने के बाद दरवाज़ा खुला, उनींदी आँखें मलती, हाथ में लालटेन लिये भाभी आयीं और हैरत में आकर कहा, "अरे, असलम!"

असलम ने भाभी को आदाब नहीं किया। वैसे ही हँस पड़ा। भाभी ने हँसते हुए असलम के हाथ से होलडाल लेकर कहा, "अन्दर आओ, आने की ख़बर तक नहीं दी?"

अन्दर आकर असलम ने पाँव के जूते खोले। फिर चारपाई पर लेटकर उसने पूछा, "भाई साहब कहाँ हैं?"

"दौरे पर," भाभी ने कहा, "महीने में क़रीब पचीस दिन दौरे पर ही रहना पड़ता है।"

"तुम अकेली रहती हो?"

"नौकरानी है।"

और फिर असलम के मना करते रहने पर भी भाभी ने उसका मुँह-हाथ धुलवाया, उसके लिए बिस्तर लगाया और लेट रहने के लिए कहा और खुद उस आधी रात को आग सुलगाने लगीं, हालाँकि असलम ने बार-बार कहा कि वह रास्ते में खाना खा चुका है और उसे अब बिलकुल भूख नहीं, पर भाभी ने उसकी एक न सुनी।

कुछ देर असलम लेटा रहा, फिर बावर्चीख़ाने में भाभी के पास जा बैठा। भाभी रोटी बनाती हुई बीजापुर की बहुत सारी बातें बताती रहीं कि पहले उसके भाई दौरे पर जाते थे तो वह कितना डरती थी, यहाँ के नंग-धड़ंग लोगों की अजीब-सी बोली सुनकर उसे कितना भय लगता था और उनके आने पर वह कितना रोती थी कि किसी दिन वह यहाँ अकेले में मर जायगी और उन्हें पता भी नहीं लग पायगा।....

रोटी खाकर जब असलम चारपाई पर आया तो बाहर बारिश होने लगी। भयानक गरज के साथ बूँदें पड़ रही थीं। हवा बर्फ़ की तरह ठण्डी हो गयी। असलम ठण्ड से ठिठुरने लगा।

अपने बिस्तर पर लेटकर भाभी ने कहा, "दो बज चुके। मालूम होता है, आज रात-भर बारिश होगी। तुम्हारे भाई साहब का लिहाफ़ है, दूँ क्या ? सर्दी तेज़ हो गयी है।

लेकिन असलम ने इन्कार कर दिया। बाहर बारिश तेज़ हो गयी और हवा के झोंके दीवारों और छप्परों पर पछाड़ खाने लगे।

*

दूसरी शाम को भाभी ने नहाकर सफ़ेद धुली साड़ी पहनी और बालों में कंघी करते हुए कहा, "यहाँ नज़दीक ही एक बड़ा ख़ूबसूरत झरना है, चलो, हम तुम्हें दिखा लायें।"

असलम ने आश्चर्य से भाभी की ओर देखा।

भाभी हँसकर बोलीं, "सोचते होगे, मैं कैसे निकलूँगी, क्यों ? यहाँ देहात में पर्दा कैसा, असलम ? मैं यहाँ पर्दा नहीं करती। जब वह होते हैं तो अक्सर उनके साथ मैं झरने पर जाती हूँ।"

असलम कपड़े बदलकर भाभी के साथ निकल पड़ा। झुकती हुई शाम के धुँधले साये में ऊँची-ऊँची पहाड़ियाँ जैसे धुन्ध में डूबी थीं। रंगीन जंगली फूलों, ऊँचे मोटे दरख्तों और दुबली-पतली लताओं से चिमटकर नशीली घाटियाँ कोयल के स्वर में कूक रही थीं और परिन्दों की बोलियों में चहक रही थीं।

उस झरने की मासूम बूँदें कितनी शोख़ थीं ! उसके इर्द-गिर्द की काई कितनी सब्ज़ और गहरी थी। आयशा ने चट्टान पर बैठकर सामने के झरने पर अपनी आँखें फैला दीं। असलम एक पत्थर पर जमी काई पर उँगलियाँ फेरने लगा। आसमान के सीने में बादल के रेशमी टुकड़े तैर रहे थे और चमगादड़ों की लम्बी और ख़त्म न होने वाली क़तार उड़ी जा रही थी।

आयशा आकर असलम के निकट बैठ गयी। आयशा के जिस्म की, साफ़-धुली साड़ी की, टायलेट-साबुन की एक बेखुद बना देने वाली खुशबू असलम की साँसों में बसने लगी। वह कुछ पल लगातार आयशा की ओर देखता रहा। फिर सामने के झरने पर आँखें जमाकर बोला—

'हाय ये शाम ये झरने ये शफ़क़ की लाली
मैं इन आसूदा फिज़ाओं में ज़रा झूम न लूँ
वो दबे पाँव उधर कौन चली आती है
बढ़के उस शोख़ के तर्शे हुए लब चूम न लूँ।'

आयशा ने चौंककर पूछा, "किसका शेर है ?"

"साहिर का। आयशा भाभी, तुमने शायद साहिर नहीं पढ़ा ?"

आयशा जवाब न दे सकी। सामने की ओर चुपचाप ताकती वह कुछ सोच रही थी। शफ़क़ की लाली घटने लगी थी और दूधिया झरने के रेशमी शबाब में धुँधलके की मटमैली स्याही की हल्की-हल्की परत सरक रही थी। हौले-हौले फिसलने वाली शाम के साये में दरख़्तों पर परिन्दों का शोर बढ़ गया और चमगादड़ों की क़तार ख़त्म हो गयी। कहीं बहुत आगे कोई जंगल जल रहा था, उससे उठकर रक्तिम लपटें दूर-दूर तक दिखायी दे रही थीं। असलम ने कहा, "साहिर का एक शेर मैं बहुत पसन्द करता हूँ।"

"कौन-सा ?"

"हयात इक मुस्तक़िल ग़म के सिवा कुछ भी नहीं शायद,
ख़ुशी भी याद आती है तो आँसू बन के आती है।"

आयशा थोड़ी देर तक असलम की ओर देखती रही, फिर सहसा असलम का हाथ पकड़कर बोली, "असलम, यह शेर मेरे लिए कह रहे हो क्या ?"

'नहीं तो, भाभी,' असलम ने चौंककर कहना चाहा, पर कुछ कहने के पहले ही आयशा के आँसू छलक आये और वह उन्हें छिपाने की कोशिश करती हुई बोली, "चलो वापस चलें !"

रास्ते में असलम ने चुपचाप चल रही आयशा को देखकर बोलने का साहस नहीं किया।

घर पहुँचकर असलम से बिना कुछ बोले आयशा अपने कमरे में चली गयी। बाहर अँधेरा गहरा हो गया। बादल घिर आये और ठण्डी हवा चलने लगी।

असलम आयशा के निकट आकर चारपाई पर बैठ गया और स्नेह-भरे स्वर में बोला, "भाभी !"

आयशा पेट के बल लेटी थी और उसका मुँह तकियों में छिपा

था। असलम की बात का जवाब दिये बिना ही आयशा चुप पड़ी रही तो असलम ने झिझकते हुए आयशा की पीठ पर अपना हाथ रखकर कहा, "भाभी, मुझसे खफा हो?"

आयशा ने पलटकर सहसा अपना चेहरा असलम की हथेली में छिपा लिया और रोने लगी। असलम कुछ पल हतबुद्धि-सा देखता रहा, फिर थरथराते स्वर में बोला, "भाभी तुम्हें क्या हो गया?"

भाभी ने आँसुओं में भीगा अपना चेहरा उठाया और कड़वे स्वर में बोली, "असलम, तुम बीजापुर क्या लेने आये हो? तुम्हें इतनी जल्दी भागे-भागे आने के लिए तो मैंने नहीं लिखा था। तुम क्यों मेरे सोये ज़ख्म कुरेदने की कोशिश करते हो?"

असलम हतप्रभ-सा आयशा की ओर देखने लगा।

आयशा का चेहरा सुर्ख़ हो गया था। वह कहती गयी—

"तुम क्यों मेरी ज़िन्दगी का राज़ जानना चाहते हो असलम? क्या इसलिए कि तुम मुझसे नफ़रत कर सको? तो लो, सुन लो, मैं कोई अच्छी लड़की नहीं। शादी के पहले मैं हमीद से प्यार करती थी। हमीद मेरा खालाज़ाद भाई है। उसके और मेरे सम्बन्ध.... इस शादी के पहले ही मैंने अपने को उसके हवाले कर दिया था।....

असलम जैसे एक चोट खाकर तिलमिलाकर उठ खड़ा हुआ और घृणा से उस लड़की की ओर देखकर तीखे स्वर में बोला, "ज़रा ठहरो, मुझे भी कुछ कह लेने दो। इस तरह तुम्हारा खत पाते ही चले आने के लिए मैं क्यों मजबूर था....इसे बताना मैं ज़रूरी नहीं समझता।....मैं तुम्हारे ज़ख्म नहीं कुरेदता, तुम आप ही अपने ज़ख्म नंगे करके मुझे दिखा रही हो। तुम्हारी ज़िन्दगी के किसी राज़ से मेरा कोई मतलब नहीं।.... शायद मैं कल ही चला जाऊँगा।" और असलम तीर की

तरह कमरे से निकल आया।

*

अगली सुबह असलम जल्दी ही उठकर जाने की तैयारी में जुट गया। होलडाल बाँधकर, गीले कपड़े वैसे ही सूटकेस में ठूँस लिये और कपड़े बदल लिये। रसोई-घर से आयशा की आहट मिल रही थी। नौकरानी चाय लेकर आयी तो उसने चाय पीने से इन्कार कर दिया, फिर भी वह चाय की प्याली मेज़ पर रख गयी। गुस्से में असलम ने चाय की प्याली उठाकर खिड़की के बाहर फेंक दी। होलडाल और सूटकेस उठाकर जब वह बरामदे तक आया तो सहसा पास वाले कमरे से आयशा निकली और असलम की बाँह छूकर पाँवों तक झुक गयी। असलम घबराकर पीछे हट गया और भाभी को उठाने की कोशिश करता हुआ बोला, "छीः, भाभी ! यह क्या करती हो ? आयशा ने असलम के पाँवों पर अपना सिर रख दिया और रोती हुई बोली, "मैं कल पागल हो गयी थी !"

असलम ने झुककर आयशा को उठाया और अपने भीतर बरबस उमड़ उठती किसी लहर को रोककर आयशा की ओर देखने लगा।

भरे कण्ठ से आयशा ने कहा, "मैं अपने मुँह से माफ़ी माँगूँ, यह मुश्किल है। पर तुम यों नहीं जा सकोगे।"

असलम के भीतर का तूफ़ान तेज़ हो उठा और बार-बार गले तक कुछ आकर रुकने लगा। भाभी ने सूटकेस असलम के हाथ से ले लिया और असलम ने आयशा से आँखें बचाते हुए होलडाल रखा और खिड़की से बाहर देखने लगा।

रात को अपने काम से निबटकर आयशा असलम के कमरे में आयी और उसकी चारपाई पर बैठते हुए बोली, "आज मैं जो-कुछ भी तुमसे कहूँगी, उसमें न तो कोरे जज़बात होंगे और न ही कोई गढ़ी हुई बात।

इसलिए तुम टोकना मत। मैं वह सब तुमसे कहूँगी, जिसे कहने के लिए मैं बेचैन थी।....न, न, तुम मुझे मत रोको। आज आयशा कल की तरह पागल नहीं है। कल मैंने कहा था न, असलम, कि मैं शादी के पहले हमीद से प्यार करती थी।...."

वह एक पल को चुप हो गयी और फिर सामने देखकर कहने लगी, "हमीद मेरा ख़ालाज़ाद भाई था। हम सब इकट्ठे एक ही घर में रहते थे। उन दिनों जब मुल्क का बटवारा हुआ और यहाँ भगदड़ मच गयी तो अब्बा ने भी नौकरी छोड़, ज़मीन-जायदाद बेच दी और हम सब हैदराबाद चले गये। पर जो हमने सोचा था, वैसा न हुआ और हमें फिर लौटना पड़ा। मगर यहाँ अब क्या था? नौकरी छूट चुकी थी, ज़मीन-ज़ायदाद सब चली गयी थी, सिर पर साया तक न था। इसलिए हम लोग ख़ाला के घर रहने लगे।

"मैं तब तेरह साल की थी। उस वक्त मैं इतनी शरमीली थी कि लड़के तो लड़के, दो-तीन लड़कियों के आगे भी बोल सकने की हिम्मत मुझमें नहीं थी। हमीद मेरी ख़ाला का छोटा लड़का था, जो उन दिनों पढ़ता था। वह बड़ा ही शोख़ और नटखट था। आज मुझे बड़ा ताज्जुब होता है कि सोलह साल की उम्र में ही वह प्यार-मुहब्बत की इतनी सारी बातें कैसे जान गया था। मैं तो प्यार-मुहब्बत कुछ नहीं समझती थी। उसी ने धीरे-धीरे मेरे दिल में भी...."

असलम के चेहरे से आँखें हटाकर भाभी खिड़की के बाहर अँधेरे में देखने लगीं। पर्दे को हिलाती हुई बाहर की काले बरसाती मेघ में भीगी ठण्डी हवा कमरे में फैल गयी। मेज़ पर रखे लैम्प की लौ एक बार सिहरकर हिल उठी। कमरे में फैली रोशनी का दायरा एक बार सिमटकर फैला और फैलकर सिमट गया। मसहरी की नाज़ुक और महीन जाली एक बार काँपी और थम गयी। भाभी का महीन

दुपट्टा सिर से सरका कि असलम ने आगे झुककर कुहनियाँ घुटनों पर टिका, अपनी हथेलियों के बीच में ठोड़ी रखकर कहा, "फिर, भाभी ?"

"फिर ठीक याद नहीं। आज इतना ही कह सकती हूँ कि मैं हमीद को प्यार करने लगी। आज सोचती हूँ तो अपने से पूछती हूँ कि सचमुच मैं हमीद को चाहने लगी थी ? हाँ कहने को मन नहीं करता। मुझे अब लगता है कि हमीद की जगह यूसुफ़, रशीद, वहीद, कोई भी होता तो भी शायद मैं वैसा ही करती और उस हालत में फिर हमीद सारे जहान का हुस्न लेकर भी आता तो भी मेरा प्यार नहीं छीन पाता। जो-कुछ भी हुआ, उसके लिए न तो मैं हमीद को दोषी ठहराऊँगी, न अपने को। मैं झूठमूठ ही ऐसा समझती रही कि मैं हमीद को प्यार करने लगी हूँ, हालाँकि प्यार के माने मुझे तब भी मालूम नहीं थे। हमीद ऊपर के कमरे में सोता था और मैं बरामदे में, जिसमें ऊपर जाने की सीढ़ियाँ थीं। हमीद ने मुझे बुलाया और मैं चली गयी।...."

ठण्डी हवा का एक झोंका आया और दरवाज़े पर धक्का मारकर लौट गया। दरवाज़े के पल्ले खुल गये और खिड़कियाँ खुलकर बन्द हो गयीं।

आयशा ने उठकर खिड़की का पर्दा खींचा, दरवाज़े का पल्ला भिड़ाया और साँकल चढ़ाती हुई बोली, "तुम किसे दोषी मानोगे, मैं नहीं जानती। जानना भी नहीं चाहूँगी। उसके कुछ दिन बाद तुम्हारे भाई साहब का शादी का पैग़ाम आया और मैं तुम्हारी भाभी बनकर आ गयी।"

असलम ने पूछा, "और हमीद, भाभी ?"

आयशा कुछ पलों के लिए चुप रही। लैम्प का साया उसके चेहरे के आधे भाग में पड़ रहा था, जिसमें कुछ गीलेपन की चमक थी। हमीद की ओर देखकर आयशा बोली, "वह कहीं चला गया और फिर नहीं

लौटा। लोग कहते हैं कि वह शराब पीने लगा था और आवारा हो गया था।"

"अब?"

"अब?" आयशा करुण स्वर में बोली, "अब वह नहीं रहा।" उसका सिर झुक गया और आँखें भारी हो गयीं। बाहर से ठण्डी हवा का एक झोंका लैम्प की लौ को फिर हिला गया।

असलम ने उठकर दरवाज़े के पल्ले लगा दिये।

आयशा बोली, "हमीद की मौत का मुझे कोई ग़म नहीं, असलम! जो बात मुझे रात-दिन बेचैन किये रहती है, वह यह है कि मैं तुम्हारे भाई साहब के साथ पूरी वफ़ादारी नहीं बरत पाती, गो कि आज मेरे दिल व दिमाग़ में सिर्फ़ वही हैं, भले वह मोटे हों, बदशकल हों, शराब पीते हों और पहाड़ी लड़कियों को फँसाते हों।"

आयशा चुप हो गयी तो असलम लेट गया और अपने पैरों पर शाल डाल ली। हू-हू करती हवा आयी और दरवाज़े पर फिर धक्का मारकर लौट गयी। आयशा तनिक झुककर, शाल को असलम के सीने तक खींचकर, उसके बालों में हाथ फेरने लगी। फिर सहसा स्नेह-सिक्त स्वर में बोली, "एक सवाल पूछती हूँ। क्या अब भी तुम मेरे ही जैसी लड़की से ब्याह करना चाहोगे?"

असलम चारपाई पर अपने ऊपर झुकी उस नारी को देखने लगा और थोड़ी देर तक देखता रहा। उसकी नाक में आयशा के जिस्म की मीठी खुशबू भरकर अन्दर फैलने लगी थी। असलम ने अपनी आँखें मूँद लीं और धीमे स्वर से कहा, "इसका जवाब मैं अभी नहीं दे सकता भाभी।"

बाहर आसमान के एक कोने में बिजली की एक रेखा काँपी, बादल गरजे और बारिश होने लगी। आयशा उठकर अपनी चारपाई

पर चली गयी।

*

घाटी के दूसरे मोड़ पर जब गाड़ी आयी तो असलम ने सिर निकालकर बाहर देखा। दूर-दूर तक फैले खेतों में हरी-हरी लहरें फैल-सिमट रही थीं। घने-घने पेड़ों की क़तारें और दूर दिखायी देती पहाड़ियाँ धुन्ध में डूबी सुरमई बादलों के गले लिपट रही थीं। उधर घाटियों के बीच एक उजले पानी का छोटा-सा झरना पत्थरों के सीने को तोड़कर बह रहा था। उसके इर्द-गिर्द गन्धहीन नीले-पीले फूल की पखुंड़ियाँ हसीन दिख रही थीं।

असलम ने अपनी आँखें पहाड़ियों के अंचल पर जमा दीं। इन्हीं पहाड़ियों और घाटियों से घिरी आयशा रहमान भाई के साथ रहती है। इन्हीं बादलों को वह रोज़ देखती है, अपनी भावनाओं में डूबी वह दीवानी लड़की, जो शादी के पहले हमीद से प्रेम करती थी और शादी के बाद....

असलम नाटकीय ढंग से हँसा।

पर वह तो किसी से भी प्यार नहीं करता। आयशा से भी नहीं, नजमा से भी नहीं....

उतार पर गाड़ी दौड़ने लगी। पीछे पहाड़ी, घाटियाँ, रहमान, आयशा और पहाड़ी झरने सब छूट गये। असलम ने अपना चेहरा सामने की ओर कर लिया। तेज़ हवा से असलम के लम्बे-लम्बे बाल बिखर गये और एक सर्द कँपकँपी उसके सीने में भर गयी। उसने अपने गर्म कोट के कालर ऊपर किये, ठण्डी हो रही कनपटियाँ उनमें छिपायीं और पीछे की सीट से टिककर सामने की रेंगती-भागती ज़मीन को देखने लगा।

* * *

नारी और प्यार

कमल,

इससे पहले कि मेरा पत्र आज तुम्हें यों अचानक मिलकर हैरानी में डाल दे और तुम मेरे और मेरे चरित्र की जटिलता के विषय में सोचने लगो, मैं कह दूँ कि आज तुम मुझे बहुत-बहुत याद आ रहे हो। इन सात बरसों की लम्बी अवधि ने मेरी स्मृतियों पर गर्द की पर्तें जमा दी हैं। मेरे ज़हन में तुम धुँधले-से पड़ गये हो। उस गर्द को कुरेदकर आज मैं फिर तह की एक झलक देखने का प्रयत्न कर रही हूँ।

कदाचित् इस बीच तुमने सोचा हो कि या रेनू तुम्हें बिलकुल ही भूल गयी, या वह तुम्हें एकाकी घड़ियों में, जब रीता मस्तिष्क इधर-उधर उड़ता फिरा करता है, याद किया करती है। इसमें सन्देह नहीं, कमल, कि तुम बराबर एक धुन्ध की तरह मेरे दिल व दिमाग़ पर छाये रहे। अक्सर सूनी रातों में, जब सारा संसार नींद में सोता रहता, मैं तुम्हें और अपने को ले बिस्तर में करवट बदलती रहती। उसमें कितनी पीड़ा या कितना सुख था, कह नहीं सकती। सिर्फ़ इतना जानती हूँ कि सुबह मेरी गर्दन के पास आड़े-टेढ़े और गोल-मोल हुए

तकिये का ग़िलाफ गीला मिलता। पता नहीं, तुम यह-सब पढ़कर मेरे विषय में क्या सोचोगे। सम्भवतः यह जानकर मेरे प्रति तुम्हारी भावना और कल्पना को सुख मिले या फिर यह भी हो सकता है कि उसमें एक टूटन और बिखराव आ जाय। जो हो, आज मैं सब कहूँगी।

मैंने जब तुम्हें जाना तो तुम अपरिचित नहीं थे। नीरज मेरा पड़ोसी था। उसके और मेरे घर के बीच केवल एक दीवार थी। यह मैं नहीं जानती कि नीरज कब से तुम्हारा मित्र था। नीरज के कमरे से किसी बात पर तुम्हारी खुली हँसी, दीवार भेदकर मुझ तक आती तो मैं सोचने लगती थी कि कौन-सी ऐसी विशेष बात है, जिस पर इस तरह तुम हँसते हो। उस समय तुम मुझे नहीं जानते थे, ऐसी बात नहीं। नीरज के घर ही कई बार मेरा-तुम्हारा सामना हुआ था। लेकिन बात करने की न तो कोई उत्सुकता थी और न आवश्यकता। वह दिन मुझे याद आता है जब एक कैमरा लिये तुम नीरज के यहाँ खड़े थे। मेरा किसी काम से वहाँ जाना हुआ तो नीरज, जो बड़ा विनोदी था, मुझे पुकारकर बोला, "रेनू, तस्वीर खिंचवायगी?"

जाते-जाते मैं रुकी और मुस्करा दी। इसमें सन्देह नहीं कि तस्वीरें खिंचवाने का मुझे बेहद शौक़ था। नीरज का स्वभाव तो तुम जानते थे। बचपन से उसके घर में मैंने खेला-कूदा और खाया-पिया था। उसके स्नेह में बड़ा माधुर्य और अनोखापन था। वह मुझे बहुत परेशान करता था। कभी भी थप्पड़ मार देना, किसी के सामने भी चिकोटी काट लेना उसके लिए मामूली-सी बात थी, भले ही मैं सत्रह की हो चुकी थी।

मैंने एक पल रुककर तुम्हारी ओर, फिर कैमरे की ओर देखा। तभी अपनी शरारत पर उतरकर नीरज ने मुझे झिड़की दी और कहा "चल हट, चुड़ैल कहीं की! शकल तो देख अपनी, तस्वीर खिंचाने

चली है !"

मैं चुप रही। वैसे तो नीरज ने मुझे हमेशा की तरह ही डाँटा था, लेकिन इस बार हमेशा की-सी स्थिति नहीं थी। पहली बार मुझे लगा कि नीरज ने आज मेरा अपमान कर दिया। सम्भवतः इसका कारण केवल यही रहा हो कि मेरे सामने तुम थे और तुम्हारे आगे इतना अपमान मैं सह नहीं पाती, यदि उसी क्षण तुमने बात न सम्हाल ली होती। तुमने आगे आकर मुझसे कहा, "आइए, मैं आपकी तस्वीर खींच दूँ।" उस पल तुम मुझे बहुत अच्छे लगे। शायद इसका कारण यह रहा हो कि मेरे संवेदनशील और भावुक मन को अपमान की चोट से तुमने बचा लिया।

उसके तीन-चार दिनों बाद तुम मेरी तस्वीर लेकर आये और मेरी ओर बढ़ाकर तुमने कहा, "आपकी तस्वीर अच्छी निकल आयी।"

मेरा सिर झुक गया। आज सोचती हूँ कि उस दिन मेरे मन में तुम्हारे लिए इतनी श्रद्धा क्यों उमड़ पड़ी। मैं कुछ भी नहीं बोल पायी। हाथ बढ़ाकर सकुचाते हुए मैंने अपनी तस्वीर ले ली। यह वही तस्वीर थी, जिसकी प्रशंसा तुमने सैकड़ों बार मेरे आगे की।

फिर तुम्हारा पिता जी के साथ कब परिचय हुआ, कब आते-जाते हमारे घर में जीजी से तुम्हारा मेल हो गया और तुम हमारे घर अधिक आने-जाने लगे, यह मुझे याद नहीं। जीजी बहुत भावुक थीं। वे तुमसे बहुत प्रभावित थीं। तुम्हारा स्वभाव, तुम्हारी हँसी-मुस्कराहट, तुम्हारा बात करने का ढंग और हिन्दी-उर्दू-मिश्रित सजी-सजायी भाषा और तुम्हारे हर क्षण मुस्कराते रहने वाले ओंठ देखकर शायद कोई भी तुमसे प्रभावित हो सकता था।

तुम्हें शायद नाज़ था कि तुम केवल हँसना जानते हो, तुम कहते थे कि तुम्हें मुहर्रमी शक्ल पसन्द नहीं। पर, कमल, मैंने आज तक

जितने लेखक-कवियों को देखा है, सब को गम्भीर और मुहर्रमी ही पाया है। गम्भीरता तुममें भी शायद आंशिक रूप में रही हो, पर उच्छृंखलता अपेक्षाकृत कुछ अधिक थी। तुम गुनगुनाया करते थे :

जीने का ढंग सिखाये जा,

काँटों की नोक पर खड़ा मुस्कराये जा !

क्या काँटों की नोक पर खड़े रहकर मुस्कराने में ही पुरुषत्व और बहादुरी है ? मैं शायद नहीं मान सकूँगी। आज इतने वर्षों बाद, सैकड़ों मील की दूरी से मैं देख रही हूँ कि काँटों की नोक पर खड़े रहकर मुस्कराने की सीख देने वाले तुम, केवल रंग बाँधा करते थे और कुछ नहीं।

तुम्हें याद होगा, तुमने एक दिन मादकता में भरकर कहा था, "रेनू, चाहे जब हो, चाहे मैं जहाँ रहूँ, एक दिन तुम्हारी छोटी-सी सुनहरी दुनिया देखने अवश्य आऊँगा। उस दुनिया में भी तुम्हें देखना चाहता हूँ जो तुम्हारी अपनी होगी।"

मुझे तो आज लगता है कि वह शायद तुम्हारी किसी कहानी का संवादमात्र था। यदि ऐसी बात नहीं तो क्या कारण है कि किरण के पिता के बार-बार आग्रह करने के बावजूद तुम एक बार भी यहाँ नहीं आये ? वे अक्सर मेरे आगे तुम्हारी तारीफ़ किया करते हैं, 'कमल भाई बहुत अच्छे हैं। बड़ा ही सुन्दर स्वभाव है उनका। बड़े ही हँसमुख हैं। इतनी प्रसिद्धि पाकर भी घमण्ड तो छू भी नहीं गया।....' मैं चुपचाप सुन लिया करती हूँ। केवल हाँ-हूँ कर देती हूँ। जी चाहता है कि कभी मैं भी खुलकर, दिल से, एक बार ही सही, और लोगों की तरह कहूँ, 'कमल यह है, वह है। उसकी लेखनी....' मगर यह क्या है, जो मुझे रोक देती है ? यह मेरे भीतर की कौन-सी आवाज़ है, जो कहती है कि ऐसा झूठ क्यों बोलूँ ? यह सचमुच झूठ है क्या ? क्या यह सच है कि तुम इतने बड़े आदमी हो जितना लोग समझते हैं ? मैं नहीं मान

सकूँगी। मुझे तो लगता है कि लेखक हमेशा झूठे होते हैं। मन-गढ़न्त कल्पनाओं को लच्छेदार भाषा में रखने में, झूठ बोलने में, जो जितना माहिर होता है, वह उतना ही बड़ा और लोकप्रिय लेखक होता है।

तुम भूले न होगे। मेरे पास अभी भी वह पत्रिका पड़ी है, जिसमें तुमने मुझे और अपने को लेकर एक असफल प्रेम कहानी लिखी है। तुम्हारी एक कहानी और है, जिसे तुम अपनी सब से सफल कहानी कहते हो। उसे पढ़ने के बाद अकस्मात ही नायिका पर क्रोध हो आता है और नायक से गहरी सहानुभूति हो जाती है। उसकी नायिका तुमने वास्तव में मुझे बनाया है और नायक तुम स्वयं हो। मुझे यह कहते संकोच नहीं होता कि तुम झूठे हो, केवल झूठ को सजाकर लिखते हो। क्या सचमुच, जैसी नायिका तुमने गढ़ी है, मैं वैसी ही थी या हूँ? तुम्हारी कहानी की नायिका नायक से मिलते ही जो-कुछ अनुभव करती है, उसकी मनोदशा का जैसा चित्रण तुमने किया है, क्या तुम समझते हो कि तुमसे मिलकर मैं वैसा ही कुछ अनुभव करती थी। शायद तुमने समझ लिया कि कल्पना के सहारे ही उड़कर कोई सफल लेखक बन सकता है। मैं आश्चर्य करती हूँ कि मेरे विषय में यह सब-कुछ तुम कैसे लिख गये, कितना झूठ और ग़लत। सुनती हूँ कि लेखक मनोविज्ञान के पण्डित होते हैं। पर तुम्हें क्या कहूँ?

तुम्हारी कहानियों और कविताओं की दीवानी मेरी कई सहेलियाँ भी थीं, जो हमेशा तुम्हारी चर्चा करती रहती थीं, प्रशंसा करते नहीं थकतीं और उनमें से कइयों से केवल तुम्हारे विषय को लेकर मुझसे झगड़ा हुआ करता था। शायद उन्हें मुझसे ईर्ष्या थी कि तुम मेरी ओर आकर्षित थे, हालाँकि मुझे उस समय यह नहीं मालूम था कि बात ऐसी है। मैं तो समझे थी कि जीजी की ओर तुम्हारा झुकाव है और उन्हें तुम बहुत

आदर की दृष्टि से देखते हो और इसीलिए तुम्हारा हमारे घर विशेष आना-जाना है। वह तो मुझे उस दिन मालूम हुआ जब मैं जबलपुर से लौट रही थी। जबलपुर में मेरी तबीयत कई दिनों तक खराब रही थी। घर पहुँचने की जल्दी में तबीयत कुछ ठीक होते ही मैं इतना लम्बा सफ़र करने को तैयार हो गयी। लेकिन बस में मेरी तबीयत फिर बिगड़ गयी। जिस्म में तो दर्द था ही, तेज़ बुखार भी आया। सफ़र का बहुत-सा हिस्सा मैंने उसी बुख़ार में तय किया। अब मैं काँपने लगी, सर्दी के मारे मेरी जान निकलने लगी तो मेरी बग़ल में बैठी महिला ने मेरे शरीर का सारा बोझ अपने ऊपर ले लिया। बुखार की उसी हालत में (मुझे तो नहीं मालूम, मेरे पास वाली महिला ने बाद में बताया) मैंने लगभग ८० मील का फ़ासला तय किया था। मुझे तो कुछ भी मालूम नहीं था कि क्या हो रहा है, मैं कहाँ जा रही हूँ, मेरे साथ कौन है। सिर फटा जा रहा था।

जब बस एक मामूली-से गाँव के पास रुकी तो न चाहते हुए भी मैंने अपनी पलकें खोलीं और सामने देखने की कोशिश की। छोटा-सा शायद पच्चीस-तीस झोंपड़ों का गाँव। अपनी धुँधलायी आँखों पर ज़ोर डालकर मैंने देखा, सड़क के किनारे कुछ लोगों की भीड़ लगी थी, बस में उतरने-चढ़ने वालों की खींच-तान और उठा-पटक की आवाज़ सुनायी पड़ी। फिर मैंने आँखें बन्द कर लीं। अधिक देर तक देखते रहने की ताकत मुझमें नहीं थी। तभी तुम उधर से मुँह में सिगरेट दबाये निकले। मुझे अकस्मात तुम्हारी आवाज़ सुन पड़ी। तुम मुझे देखकर हैरान हो रहे थे, खुश हो रहे थे। और मैं ? मुझे तो आज भी याद नहीं आता कि मैंने उस पल ख़ुशी का अनुभव किया या दुख का। मुझे तो उसी दिन पता चला कि वह गाँव तुम्हारा है और तुम्हारी वहाँ बहुत ज़मीन है। तुम्हीं से मुझे मालूम हुआ कि फ़सल के

अवसर पर चार-पाँच महीनों के लिए तुम्हारे पिता वहाँ आ जाते हैं। अवकाश में कभी-कभी तुम भी वहाँ आकर रहा करते हो। शायद वह एकान्त तममें कल्पनाएँ भरता हो, तुम्हें कहानियाँ देता हो, क्योंकि उसी गाँव में, उसी खपरैल के मकान में तुमने एक मोटा-सा उपन्यास लिखा था।

आज सोचती हूँ कि उस दिन तुम्हारा अकस्मात ही मिल जाना मेरी खुशनसीबी थी या बदनसीबी? सम्भवतः अगर मैं उसी हालत में आगे जाती तो मेरी तबीयत और ज़्यादा खराब हो जाती। अभी भी वहाँ से घर का ४० मील का फ़ासला था। तुमने मेरी हालत देख, माथे पर हाथ रखकर घबराये स्वर में कहा, "रेनू, तुम्हें तो ज़ोरों का बुखार है! न, न, ऐसी हालत में आगे तुम नहीं जा सकोगी। उतर आओ, यहाँ पास ही मेरा मकान है। ठीक होकर चली जाना।"

मैं नहीं कह सकती कि उस तरह तुम्हारे पास उतरते मैं हिचकिचायी या नहीं, पर एक धुँधली याद आज भी बाक़ी है कि मैं अपने मन से नहीं उतरी थी। पास की महिला ने ही मुझसे आग्रह-पूर्वक उतर जाने के लिए कहा और कुछ जाने, कुछ अनजाने में मैं उतर गयी। पता नहीं, उस महिला को बिना पूछे-जाने ही कैसे यह विश्वास हो गया था कि तुम मेरे कोई अपने हो।

तुम्हारे गाँव के उस मकान में, जहाँ उस समय तुम अकेले थे, तुमने ही मुझे बताया, मैं दो दिनों तक बेहोश पड़ी रही। यह अच्छा ही हुआ कि मैंने जबलपुर से रवाना होने की सूचना पिता जी को नहीं दी थी, वर्ना मुझे जवाब देना कठिन हो जाता कि मैं रास्ते में कहाँ और क्यों रह गयी थी। मेरे यह पूछने पर कि तुमने पिता जी को ख़बर की या नहीं, तुमने कहा कि ख़बर करने से वे और घबरा जाते और शायद चले आते, इसलिए नहीं की। मैं चुप हो गयी। शायद मुझे भी सन्तोष

हुआ कि ख़बर न करके तुमने ठीक ही किया। बुख़ार के उन तीन दिनों तुमने मेरे लिए क्या-क्या किया, यह मैंने बिना देखे ही अनुमान कर लिया। मैं जानती हूँ कि तुम तीन दिन-रात मेरे निकट बैठे रहे। रात में किसी भी समय जब मेरी आँख खुलती तो बेड-लैम्प को धुँधली रोशनी में मैं तुम्हें अपने सिरहाने बैठे पाती।

मुझे आज भी आश्चर्य होता है, कमल, एक छोटे-से गाँव में अकेले तुम्हारे साथ मैंने चार-पाँच दिन बेहोशी और परेशानी में बिताये, और एक क्षण के लिए भी मैंने यह अनुभव नहीं किया कि मैं अपने घर में न होकर एक अपरिचित के यहाँ अकेली तप रही हूँ। रात के मौन क्षणों में जब सारा गाँव सो जाता, अँधियारे में सन्नाटे को चीरती कभी सियारों और कुत्तों की आवाज़ें माटी की दीवारों से आ-आकर टकरातीं तो अचानक भय से मेरी आँखें खुल जातीं। उस समय तुम मेरी खाट पर, मेरे ऊपर झुककर, तवे की तरह जल रहे मेरे मस्तक और गालों को सहलाकर हमदर्दी-भरी आवाज़ में जैसे शहद घोलकर कहते, "रेनू, सो जाओ!"

मेरी आँखें अटक जातीं तुम्हारे परेशान, धुँधले चेहरे पर, तुम्हारी सुर्ख़ आँखें, बढ़ी हुई दाढ़ी और माथे पर लटकते काले घुँघराले लम्बे बालों पर और जी चाहता कि तुम्हारा चेहरा अपनी काँपती हथेलियों में रखकर देखूँ, देखती रहूँ और तुम्हारे घुँघराले काले बालों को सहलाती हुई, तुम्हारी उनींदी आँखों को अपनी उँगलियों से मूँदकर कहूँ, 'कमल, तुम क्या हो, मेरे लिए तुम क्या हो? मैंने तुम्हारे लिए अपने दिल में क्या-क्या छिपा रखा है, बता सकते हो? मैं नहीं जानती। मैं कैसी पगली हूँ कि मैं कुछ भी नहीं जानती। मैं तुम्हें प्यार नहीं करती, फिर भी तुम क्यों अच्छे लगते हो? अलग, दूर रहकर भी हर पल क्यों तुम मेरे दिल-दिमाग़ पर छाये रहते हो? फिर भी कौन-सी ऐसी चीज़

है तुममें या मुझमें, जो आगे बढ़ने से हमें रोक देती है। क्या मैं झूठ बोल रही हूँ ?....'

"सो गयी क्या ?" तुम कह उठते और मैं अपना तपता हाथ तुम्हारी कलाई पर रख यह बताती कि नींद नहीं आ रही है। मैं पलकें मूँदे पड़ी रहती। मस्तिष्क में कैसा तूफ़ान होता, कितनी घबराहट और बेचैनी। आज मैं सोचती हूँ, क्या पुरुष भी इतना ममतामय हो सकता है ? कहते हैं, नारी स्नेह और ममता की देवी होती है। पर पुरुष ? कौन जाने लोग क्या कहें, पर मैंने तुम्हें जानकर सब को जान लिया, ऐसा सोचती हूँ। तुमने मुझे बच्चों की तरह दुलराया है, पुचकारा है और थपकियाँ दे-देकर सारी-सारी रात जागते रहे हो।

• तुम इतने ममतामय हो सकते हो, यह मैंने स्वप्न में भी नहीं सोचा था। किरण के पिता मुझे प्यार करते हैं। यह कैसे कहूँ कि तुमसे कम या अधिक, पर उससे कहीं अधिक, जितना एक अच्छा पति अपनी पत्नी को कर सकता है। ब्याह के बाद मैं बीमार भी पड़ी हूँ। डाक्टरों की भीड़ रही है। नौकरों का मजमा रहा है। दवाइयों की बोतलों की क़तार लगी है। परेशानी, दौड़-धूप, सब-कुछ। लेकिन पलंग में पड़े-पड़े मैंने उस दिन को याद किया है, जब एक मामूली-से गाँव में, एक साधारण-सी खाट पर बिना दवाइयों के भी तुमने मुझे जिलाये रखा। उस कमल को इस किरण के पिता से मैंने कितना ऊँचा माना है, कह नहीं सकती।

पाँचवें दिन, जब मेरी तबीयत सम्हली, तुम्हारी आँखों में चमक और बोली में खुशी आ गयी। मैंने तुम्हारे मना करते रहने पर भी खाट छोड़ दी। ज़िद करके तुम्हारी हजामत बनवायी, स्नान करवाया और स्पष्ट कह दिया कि मैं अब अच्छी हूँ और तुम अपनी यह मुहर्रमी सूरत बदल डालो। तुम शायद विरोध नहीं कर सके और जब तुम

साफ़-सुथरे कपड़े पहने, बाल सँवारे, मुस्कराते हुए मेरे सामने आये तो सच, उस क्षण तुम बहुत ही भले लगे। मेरी आँखों में आँखें डालकर, जाने कितने उत्साह और उमंग में भरकर तुमने पूछा, "अब कैसा लगता हूँ?"

मैंने केवल एक पल अपनी पलकों को रोककर तुम्हें देखा, फिर नहीं देख सकी। कोशिश करने पर भी नहीं। मुझे स्वयं आश्चर्य होता है कि ऐसा क्यों हुआ। मैं यह नहीं मानती कि मैं तुमसे शरमा गयी या मेरी पलकें लाज से बोझिल हो गयीं। पर वह क्या था? शायद सैकड़ों कहानियों में पलकों के न उठने का कारण लाज और प्यार बताने वाले तुमने भी यही समझा कि मैं तुमसे शरमा गयी।

मैंने केवल इतना कहा, "बहुत अच्छे लगते हो।"

फिर मैंने देखा कि तुम्हारा उत्साह बढ़ गया और तुम अधिक प्रसन्न दीखने लगे। शायद तुम्हें विश्वास हो गया था कि तुम मुझे पाने लगे हो।

रात को, तुम्हारे मना करते रहने पर भी, मैंने अपने हाथों से खाना बनाया। पता नहीं इसे तुमने क्या समझा। मैंने तो यही सोचकर खाना बनाया था कि पुरुष नारी के रहते स्वयं खाना बनाये और खिलाये, यह कुछ अच्छा नहीं लगता। और अधिक स्पष्ट कहूँ तो मैं नहीं चाहती थी कि तुम्हारा और ज़्यादा अहसान अपने सिर पर लादूँ। इसीलिए जान-बूझकर मैंने खाना बनाया। जब खाना तैयार हुआ और तुम मेरे सामने बैठकर खाने लगे, तुमने पता नहीं मेरे बनाये खाने की कितनी प्रशंसा कर डाली, हालाँकि उस समय मुझे ठीक से खाना बनाना भी नहीं आता था। मैं बरबस ही मुस्कराती रही। और सहसा तुमने मेरा हाथ पकड़कर मेरी आँखों में देखा और कहा, "रेनू, सच कहना, यह सब ख़्वाब तो नहीं है?"

"क्या ?"

"यही कि तुम मेरे पास हो और मुझे खाना खिला रही हो।"

फिर कुछ पल रुककर मेरी हथेलियों को थोड़ा दबाकर, मेरी आँखों में देखते हुए तुमने कहा, "यदि कोई हमें इस तरह देखे तो क्या समझे ?"

क्षण-भर मैं तुम्हारे प्रश्न पर विचार करती रही और जो-कुछ तुम कहलवाना चाहते थे, वह भी मैं समझ गयी। लेकिन जान-बूझकर मैं अनजान बन गयी। तुम्हारा वह प्रश्न मुझे बिलकुल ही अच्छा नहीं लगा। उल्टे मैंने ही तुमसे प्रश्न कर दिया, "क्या समझेगा, तुम्हीं बताओ ?"

शायद तुम इतना साहस नहीं बटोर सके कि कुछ कहते और बात वहीं समाप्त हो गयी।

फिर तुम अपनी कहानियों के विषय में बातें करने लगे कि तुम्हारी कौन-सी कहानी कैसी है; तुम कैसे और किस मूड में लिखते हो; तुम्हारी शैली के माधुर्य के विषय में कौन क्या कहता है; अपने शहर में होने वाली किस घटना ने तुम्हें कहानी लिखने की प्रेरणा दी, आदि-आदि। मुझे तुम्हारी उन बातों में बिलकुल ही रस न आया। केवल कर्तव्य-वश मैं सुनती रही।

चौके से निबटकर मैं बाहर बरामदे में आयी। उन पाँच दिनों में मैं यह बिलकुल ही भूल गयी थी कि मुझे घर लौटना है और पिता जी शायद रास्ता देखते हों। मैं सोचने लगी कि मैं वहाँ बेकार ही रुक गयी। मुझे वहाँ नहीं रहना चाहिए था। थोड़ा बुखार ही तो था, रास्ते में क्या मर जाती ? मुझे तुम पर क्रोध आया कि तुमने मुझे क्यों और किस अधिकार से रोक लिया। कौन होते थे मेरे। पता नहीं कोई सुने कि मैं तुम्हारे गाँव में पाँच दिन-रात रही हूँ तो क्या सोचे। मैं क्या

जवाब दे पाऊँगी ? कौन विश्वास कर सकेगा कि मैं वहाँ बरबस ही उतार दी गयी थी ?

तभी तुमने आकर कहा, "रेनू !"

मैं चौंक गयी। देखा तो तुम पास ही खड़े थे। मैंने कुछ न कहकर केवल प्रश्नसूचक दृष्टि से देखा।

तुमने भावुकता में भरकर कहा, "चलो, थोड़ी दूर घूम आयँ। देखो न कितनी अच्छी रात है, कितनी गोरी, कितनी जवान !"

वास्तव में वह रात बड़ी खूबसूरत थी। ऐसी बात तो नहीं कि मैं हृदयहीन हूँ, मुझे चाँदनी से मुहब्बत नहीं या मुझे चाँद प्रिय न लगता हो, लेकिन उस समय तुम्हारी वह बात मुझे अच्छी न लगी।

तुम्हारी एक कहानी में मैंने इसी तरह की एक रात का वर्णन पढ़ा था—'दूधिया, जूही-सी रात।....देखो, कितनी प्यारी रात है ! चलो, चाँदनी में घूम आयँ।'

और नायिका अधखुली आँखों से नायक की ओर देखकर अपने को छोड़ देती है। नायक नायिका का हाथ अपने हाथ में लेकर दूर चाँदनी में बढ़ जाता है और दोनों एक दूसरे में डूब जाते हैं।

तुम उस समय वैसा ही कुछ सोच रहे थे क्या ? शायद उस दिन कहानियों के नायक तुम स्वयं बन जाना चाहते थे। पता नहीं, मैं इतनी रूखी क्यों हो गयी, कहा, "मैं नहीं जाऊँगी कमल, तुम जाओ।"

शायद तुम्हें मुझसे ऐसे जवाब की उम्मीद न थी। ऐसे रूखे और कोरे जवाब से तुम अपमानित, निरुत्तर, बुत बने मेरी ओर देखते रहे। फिर मुँह फेरकर भीतर चले गये। कह डालने के क्षण-भर बाद ही मुझे लगा कि मैंने ठीक नहीं किया। शायद ऐसा जवाब मुझे नहीं देना चाहिए था। सच तो यह था कि मैं बहुत पछतायी और अपनी कही बातों के प्रभाव को दूर करने के लिए मैं तुम्हारे पास गयी। तुम चुपचाप खिड़की

के पास खड़े थे और तुम्हारी आँखें बाहर फैली थीं। बाहर आसमान जवान था। ज़मीन जवान थी। तुम्हारे शब्दों में हर चीज़ जवान थी। मेरे क़दमों की आहट पाकर भी तुम नहीं चौंके, मेरी ओर देखा तक नहीं। वैसे ही दूर तुम्हारी आँखें भटकती रहीं। सच कहूँ, कमल, मुझे तुम पर बड़ा तरस आया। मैंने तुम्हारे कन्धे पर धीरे से अपना हाथ रख दिया। तुम चौंके तक नहीं। शायद तुम्हें विश्वास था कि मैं प्रभावित हो उठी हूँ।

मैंने अपनी वाणी में ज़माने भर की मिठास भरकर कहा, "कमल, मेरी बात का बुरा मान गये क्या ?"

थोड़ी देर तक तुम चुपचाप उधर ही देखते रहे। पेड़, पौधे हर चीज़ उस दूध-सी उजली चाँदनी में नहा रही थी। पास ही के दरख्त पर कोई पन्नी फड़फड़ाया और अपने भारी डैनों को हवा में पसारे सायँ-सायँ करता हमारे नज़दीक से ही गुज़र गया। तुमने पलटकर मेरी ओर देखा। मैं आज भी विश्वास नहीं कर पाती, जो उस दिन देखा। क्या तुम सचमुच रो रहे थे ? तुम्हारी आँखें आँसुओं में डूब रही थीं और गाल गीले हो रहे थे। यह तुम्हारा कैसा नारियों-जैसा हृदय है ? कोमल और सुकुमार ! भावुकता से मुझे भी किसी हद तक प्यार है, लेकिन एक हद के आगे भावुकता को मैं नफ़रत की निगाह से देखती हूँ।

मैंने उस समय जो कुछ भी कहा, वह तुम्हारा जी दुखाने के लिए कदापि न था। लेकिन अपनी रुखाई के लिए मुझे स्वयं अपने पर क्रोध आया और मैंने अपने को माफ़ न कर पाकर धीरे से कहा, "कमल मुझे माफ़ नहीं करोगे ?"

तुमने एक पल मेरी ओर देखा और फिर अकस्मात मुझसे लिपट गये और बच्चों की तरह मेरे सीने में मुँह छिपा, फूट-फूटकर

रो पड़े। मैं कुछ भी नहीं समझ पायी कि क्या हो गया। जब मैं सम्हली तो पाया कि तुम मुझसे बेतरह लिपटे थे, लता की तरह चिमट गये तुम्हारे जिस्म पर मैंने क्षण-भर के लिए निगाह डाली। तुम पहले पुरुष थे जो मेरे शरीर के इतने निकट आये। मैं बड़े असमंजस में पड़ गयी। जी में आया कि तुम्हें झिड़ककर अपने से दूर कर पूछूँ, 'यह क्या है, कैसी बेहूदा हरकत ?'

लेकिन तुम्हारे आँसुओं ने, जो कि ब्लाउज़ भेदकर अब मेरे जिस्म को छू रहे थे, ऐसा नहीं करने दिया। मैं कुछ क्षणों के लिए सोचती रह गयी। फिर आहिस्ते से तुम्हारे बालों में उँगलियाँ उलझाकर, तुम्हारा सिर उठाया और बोली, "कमल !"

तुम नहीं बोले।

"कमल, तुम्हें क्या हो गया ?" कहती हुई मैं स्वयं रो पड़ी। कह नहीं सकती कि तुम्हारी बेबसी पर अथवा अपनी। तुमने कुछ भी न कहकर अपना गाल मेरे मुँह पर धर दिया और करुण स्वर में कहा, "तुम मुझसे इतनी नफ़रत क्यों करती हो रेनू ? मैं तुम्हें बहुत बुरा लगता हूँ क्या ? बोलो न, हमेशा तुम मुझे...."

आगे तुम नहीं बोल सके। तुम्हारी आवाज़ टूट गयी थी। मुझे छोड़कर तुम खिड़की के पास झुक गये। कुछ देर तक मैं पत्थर की तरह वहीं जमी रही। मेरे शरीर का रोआँ-रोआँ जल रहा था। गाल सुर्ख़ होकर तप रहे थे और ओंठों से आग-सी निकल रही थी। तुमसे बिना एक भी शब्द कहे मैं अन्दर बिस्तर पर जाकर गिर पड़ी और फूट-फूटकर रोने लगी। नहीं जानती कि तुम वहाँ कितनी देर तक खड़े रहे।

उसके दूसरे दिन ही मैं चली आयी। उस घटना के बाद तुमने मुझसे कुछ न कहा। घर पहुँचकर मुझे तनिक भी परेशानी नहीं उठानी पड़ी। सभी यह समझते थे कि मैं सीधे जबलपुर से आ रही हूँ। मैंने

भी पता नहीं क्यों, किसी से नहीं कहा कि मैं बीमार पड़कर तुम्हारे यहाँ रुक गयी थी।

माँ ने पूछा, "रेनू, बीमार थी क्या? दुबली-सी दिखती है।"

मैंने कहा, "हाँ, माँ। जबलपुर में कई दिनों तक बुख़ार आता रहा।"

तुम्हारे विषय में मैंने किसी से कोई बात नहीं कही।

उसके बाद तुमने हमारे यहाँ आना-जाना बिलकुल कम कर दिया। मैं जब तक रही, उन दस महीनों के बीच, शायद तुम तीन-चार बार से अधिक नहीं आये और मुझसे तो एक बार भी नहीं मिले। जब भी तुम आये, जीजी से बातें करके चले गये। जीजी ने मुझसे एक दिन पूछा, "कमल आज-कल कम आने लगा है, तूने कुछ कह दिया है क्या, रेनू?"

"नहीं तो। जबलपुर से आने के बाद तो मुझसे मुलाक़ात ही नहीं हुई।" मैं साफ़ झूठ बोल गयी। एक दिन जब तुम जीजी से बातें कर रहे थे, मैं कहीं से घर लौटी। मुझे देखकर एकबारगी तुम सहम गये और जीजी से कोई बहाना बनाकर तुरन्त लौट गये। मैं समझ गयी कि तुम मुझसे कन्नी काट रहे हो, इसलिए उसके बाद जब कभी भी तुम आये, मैं अपने कमरे में ही बैठी रही और आवश्यकता पड़ने पर भी तुम्हारे आगे से निकलकर नहीं गयी। जीजी कहतीं, "कमल आज-कल कितना खोया-खोया-सा रहने लगा है, रेनू। इतना विनोदी लड़का, पता नहीं किस चिन्ता में घुला जा रहा है!"

मैं कहती, "लेखक अक्सर ऐसे ही होते हैं, जीजी।" यद्यपि मैं जानती थी कि तुम्हारी सारी परेशानी और उदासी का कारण क्या है।

कई रातें मैंने सोचने में बितायी हैं कि आख़िर मुझमें ही ऐसा क्या है, जो तुम्हारा प्यार पाती हूँ; और तुममें ऐसी कौन-सी चीज़ है, जिसने

मुझे हमेशा ही तुम्हारी ओर बढ़ने से रोका है ? नीता मुझसे अधिक सुन्दर थी, लेकिन तुमने उसकी ओर निगाह तक नहीं उठायी, भले ही वह तुम्हारी कहानियों की दीवानी बनी रही। कभी-कभी तो मुझे शंका होने लगती कि मैं सचमुच ही तुम्हें प्यार तो नहीं कर रही हूँ। अपने दिल को टटोलती तो अन्दर निश्चय ही तुम्हारे प्रति बड़ी कोमल और सुकुमार भावना पाती। पर मैं निर्णय नहीं कर पाती थी कि मैंने तुम्हें प्यार किया है अथवा नहीं। यदि नहीं तो क्यों ? तुममें कौन-सी कमी है ? तुम स्वस्थ हो, सुन्दर हो, तुम्हारे बाल काले और घुँघराले हैं, तुम्हारी आँखों में जादू है, चाल में नशा है और फिर तुम एक जाने-माने कहानी लेखक हो।

ब्याह होने तक मैं यही सब सोचती रही, लेकिन कुछ तय नहीं कर पायी। लेकिन आज सोचती हूँ तो लगता है कि मैंने तुम्हें कभी प्यार नहीं किया। मैं तुम्हें प्यार कर ही नहीं सकती थी। ऐसी बात नहीं कि कुँआरेपन में मेरे हृदय में कभी उफनती भावनाएँ नहीं उठीं। यह भी नहीं कि मेरी कल्पना का कोई प्रेमी मेरे मस्तिष्क में उभरा ही न हो और जिसे मैं अपना सब-कुछ दे डालने के लिए आतुर न होऊँ। लेकिन बुरा न मानना, कमल, जिस स्वरूप की मैंने कल्पना की थी, मेरी कल्पना के उस पुरुष और तुममें बहुत अंतर था। वह जो हर क्षण, मेरे अंतर में उभरा करता था, वह तुम्हारी तरह कोई भावुक लेखक नहीं था।

ब्याह के दिन जब मैं विवाह मण्डप में बैठी थी तो तुम्हारी याद आयी। मन में आया कि अगर तुम आये हो तो तुम्हें एक बार देख लूँ। पर मेरे पूछने के पहले ही जीजी ने मुझसे कहा, "कमल नहीं आया रेनू! देख, उसने तेरे लिए यह उपहार भिजवाया है।"

मैंने देखा, वह तुम्हारा नवीन उपन्यास था, झूठ और बकवास का

मोटा पुलिन्दा ! कोई उत्साह प्रगट न कर मैंने उसे चुपचाप रख लिया। उसमें कौन-सी नयी बात हो सकती थी। एक लड़का, एक लड़की, प्रेम और विरह। लड़की बेवफ़ा हो गयी अथवा लड़के ने दाग़ दिया, इसके सिवाय उसमें हो भी क्या सकता था? तुम्हारा वह उपन्यास आज भी मेरे पास है, लेकिन चाहने पर भी मैं पढ़ नहीं पायी हूँ। किरण के पिता तो दो बार पढ़ चुके हैं। बार-बार उसकी प्रशंसा करते हैं और मेरे न पढ़ने को अरसिकता कहते हैं। मैं केवल मुस्करा-भर देती हूँ। मैं क्या सचमुच ही ऐसी हूँ? तुम नारी के सौन्दर्य, उसके ओंठ, उसके कपोल, उसके यौवन की प्रशंसा व वर्णन के सिवाय और भी कुछ लिख सकते हो क्या? यदि नहीं तो सच मानो कमल, तुम अपना जीवन नष्ट कर रहे हो। झूठी प्रशंसा के बीच तुम ऊँचे उठना चाहते हो। जीवन को देखने का तुम्हारा दृष्टिकोण ग़लत है। जितना निराशापूर्ण और व्यथामय तुम जीवन को समझते हो, उतना यह नहीं। यह तो तुम्हारी भावुकता मात्र है, कमल, जो मौत तक तुम्हारे साथ बनी रहेगी। यह न समझो कि मैं तुम्हें उपदेश दे रही हूँ। मुझे अपने जीवन पर भी गर्व नहीं। इसका क्या ठिकना है, कमल, मेरा यह सुख कल छिन्न-भिन्न हो सकता है। यह सपना किसी भी पल टूट सकता है। ऐसा मत समझना कि मुझे अपने पर नाज़ है। आज मेरे पास सब-कुछ है—थोड़ा-सा धन, प्रतिष्ठा, रूप और अपने पति का प्यार भी।

किरण के पिता मुझे बहुत चाहते हैं। सेना के नायक होने पर भी सैनिक जैसा हृदय इनका नहीं। दिन भर का जला-फुँका मन लेकर शाम को जब ये मेरे निकट आते हैं तो उनके शब्दों में, मैं उन्हें अमृत पिला देती हूँ। हमारे विवाह को सात साल होने को आये, लेकिन हममें कभी भी मनमुटाव नहीं हुआ। तुम तो कुछ नहीं देखते, कमल, जान-बूझकर देखना ही नहीं चाहते। मैं एक बार फिर आग्रह करती

हूँ कि तुम अपने शब्दों को याद करो। चाहती हूँ कि एक बार मेरी यह छोटी-सी दुनिया भी देख जाओ। किरण के पिता भी अक्सर तुम्हें याद किया करते हैं।

पत्र बहुत लम्बा हो गया। इसे खत्म करने के पहले एक बात और कहूँ कि तुम शादी कर लो। नहीं जानती कि मेरी बातें तुम कैसे लोगे। मैं विश्वास भी नहीं करती कि मान सकोगे, पर याद रखो, मैं निकट भविष्य में ही आ रही हूँ। तुम मुझे इतनी नीच न समझो, कमल! भले ही तुम्हारे हँसी-भरे संसार में ज़हर घोलने का दोष मेरा न हो, पर मैं अपने को किसी क़दर अपराधी अवश्य मानती हूँ। अपने हाथों मैं तुम्हें फिर बनाना चाहती हूँ। कह नहीं सकती क्यों, पर इतना कुछ होने पर भी मेरे अन्तर का एक कोना हरदम तुम्हारी मुस्कराहट, तुम्हारी हँसी देखने-सुनने को आतुर रहता है। चाहती हूँ कि फिर तुम अपने ओंठो में हँसी लपेटकर गुनगुनाया करो :

'जीने का ढंग सिखाये जा,
काँटों की नोक पर खड़ा मुस्कराये जा।'

तुम दावा मत करो, कमल, मैं जानती हूँ और विश्वास करती हूँ कि लेखक होने और दिन-रात नारी का चित्रण करते रहने पर भी तुम वास्तव में नारी और उसके प्यार को नहीं जानते। अच्छा, अब बस करती हूँ।

हमारी किरण तुम्हें नमस्ते कहती है।

तुम्हारी,
रेनू

* * *

पहाड़ और ढलान

मिस रेखा माथुर जब बी० टी० करने के पश्चात् लौटी तो हेडमिस्ट्रेस मिसेज़ शर्मा से भेंट न हो सकी। उनकी बदली आकोला हो गयी थी। हिन्दी के शिक्षक अग्रवाल लॉ करने के लिए नागपुर चले गये थे। मिस सुधा श्रीवास्तव पिछले दो महीनों से बीमार होकर छुट्टी पर थी। मिस केकरे का ब्याह हो गया था। और सुखराम चपरासी अपनी पत्नी, तीन बच्चों और जवान बहन को छोड़कर मर गया था।

एक लम्बे समय के बाद जब वह स्कूल के अहाते में आयी तो उसने अपनी चाल धीमी कर दी और चारों ओर आँखें फैलाकर ऐसे देखने लगी, जैसे पहली बार ससुराल से लौटी लड़की अपने घर को देखती है।

सामने बरगद का पेड़ वैसा ही घना था। कटहल की कुछ शाखें काट डाली गयी थीं, वहाँ एक नयी इमारत बन गयी थी और उसकी उजली-सफ़ेद दीवारों में नयी लैब-बिल्डिंग के साफ़-सुथरे दरवाज़ों और खिड़कियों के शीशे चमक रहे थे। अहाते के एक किनारे सुखराम की सरकारी झोंपड़ी थी, जिसमें वह पिछले पाँच बरसों से रह रहा

था। आज सुखराम की झोंपड़ी सूनी थी और दरवाज़े पर साँकल चढ़ी थी। सुखराम मर गया था।....रेखा ने उधर से आँखें हटा लीं।....एक दिन इस झोंपड़ी से सुखराम की लाश निकाली गयी होगी। इसी अहाते में उसकी विधवा पत्नी और जवान बहन की चीखों के साथ उसके नन्हें-नन्हें बच्चों की मासूम चीखें बरगद और कटहल के पत्तों से लिपटती अहाते में फैल गयी होंगी और शायद स्कूल की छात्राओं ने बरामदे में स्तब्ध होकर एकाध आँसू ढलका दिये हों, क्योंकि सुखराम सीधा आदमी था और पिछले पाँच वर्षों से घण्टा बजाया करता था।

इस हाई स्कूल के अहाते से लगा, निकट ही प्राइमरी स्कूल है। वहाँ से छोटे-छोटे बच्चों का शोर उठ रहा था। रेखा ने उधर आँखें फेरीं। दालान में बच्चों की क़तार थी और मास्टर साहब पहले की ही तरह आज भी घूम-घूमकर ऊँचे स्वर में पढ़ा रहे थे। एक क्षण के लिए रेखा को देखकर मास्टर साहब सहसा ठिठक गये, फिर खिड़की के पास, जो हाई स्कूल के अहाते की ओर खुलती है, आकर उसकी ओर देखने लगे।

रेखा ने जैसे सहमकर आँखें सामने कीं, डगों को संयत किया, काँधे से सरक रहे आँचल को सम्हाला और तेज़ क़दमों से चलने लगी।

भले ही रेखा के लौटने पर सब-कुछ बदल गया हो, पर यह मास्टर नहीं बदला, उसकी कक्षा नहीं बदली। रेखा के इस हाईस्कूल में आने के दिन से लेकर आज तक इसमें कोई परिवर्तन नहीं हुआ। उसे उस मास्टर से कोई दिलचस्पी नहीं थी। पहले दिन भले ही उसने उड़ती निगाहों से उधर देखा हो।....बेतरतीब, सूखे-उलझे बालों और कुरते-पाजामे में एक साँवले रंग का २३ साल का नवयुवक, जो चेहरे से तो गम्भीर लगता है, पर वैसे शायद नहीं है। उसमें आखिर विशेषता ही क्या थी। रेखा एम० ए० पास थी। उसकी उत्सुकता एक मैट्रिक पास

प्राइमरी स्कूल के शिक्षक के लिए, जो सुबह से लेकर शाम तक बच्चों को वर्णमाला के अक्षर सिखाता रहता है, क्या शोभनीय हो सकती है?

रेखा ने उपेक्षा से एक बार मुस्कराकर अपनी चाल तेज़ कर दी, पर सहसा उसे लगा, जैसे उसके डग आड़े-तिरछे पड़ रहे हैं, उसकी साड़ी आज शायद ऊँची बँधी है, पिंडलियों का बहुत-सा हिस्सा खुला रह गया है और मास्टर की चुभती आँखें शायद उसके खुले टखनों पर पड़ रही हैं।

हेडमिस्ट्रेस के आफ़िस के सामने पहुँचकर रेखा ने आराम की साँस ली। वह जैसे थक गयी थी, पाँव दुखने लगे थे और चेहरा तमतमा रहा था। टीचर्स-रूम के दरवाज़े पर खड़ी होकर उसने अपने को संयत किया और अन्दर घुसी। वहाँ कई अनजानी शक्लें, रूप-रंग और नाक-नक्शे थे। मिस चौधरी ने, जो बीस से अधिक की न थी और मिडिल विभाग में टीचर थी, रेखा का सभी से परिचय करवाया। फिर अलग ले जाकर बड़ी देर तक बातें करती रही। स्कूल की बातें, नयी हेड-मिस्ट्रेस, उसकी योग्यता, उसके स्वभाव की बातें। सुखराम चपरासी, उसकी बीमारी, मौत तथा और भी कितनी ही बातें। उसकी अपनी बातों में, नीले रंग के ब्लाउज़, जिसे वह बहुत पसन्द करती थी और अक्सर पहना करती थी, के खोने से लेकर उसके ब्याह के तय हो जाने तक के समाचार थे। स्कूल की बातों में उसे पहले कितने पीरियड पढ़ाने पड़ते थे, अब कितने फ्री रहते हैं, फिर भी हेडमिस्ट्रेस की क्या-क्या शिकायतें हैं, इंस्पेक्ट्रेस जब आयी तो उससे कैसे प्रसन्न व प्रभावित होकर अपर-ग्रेड टीचर बना देने का वादा कर गयी और हेडमिस्ट्रेस ने क्या कहा और कौन-कौन जल उठे....

रेखा बोली, "सुना है, बाढ़-पीड़ितों की सहायता के लिए कोई नाटक भी खेला जा रहा है।"

"हाँ," मिस चौधरी ने टालती-सी आवाज़ में कहा, "रिहर्सलें तो होती हैं, पर मैं दिलचस्पी नहीं लेती। यहाँ आज-कल कितनी गुटबन्दी हो गयी है, यह अभी तुम नहीं जान पाओगी। मैं ज़बरदस्ती ही अपने को सामने करने वालों में नहीं हूँ। और तो और, स्वयं हेडमिस्ट्रेस भी अपर-लोअर की फ़ीलिंग रखती है।"

रेखा ने पूछा, "कौन-सा ड्रामा खेला जा रहा है? कोई ऐतिहासिक है क्या?"

"नहीं, सामाजिक। एक सक्सेना हैं, हेडमिस्ट्रेस के परिचित, कहते हैं, उन्होंने देश-विभाजन और शरणार्थी समस्या पर कुछ लिखा है।"

"कैसा है? तुमने रिहर्सल तो देखी ही होगी?"

"मुझे कोई दिलचस्पी नहीं," मिस चौधरी उपेक्षा से हँसी और ओंठ बिचकाकर बोली, "पुराना राग अलापने के सिवाय उसमें और क्या होगा? कभी यह समस्या थी, पर आज उसका महत्व क्या है? देश के सामने आज इससे भी महत्वपूर्ण समस्याएँ हैं।"

रेखा को राजनीति से कोई दिलचस्पी नहीं थी। इस प्रकार की बहस से वह सदैव बचना चाहती थी।

मिस चौधरी रेखा की ओर कुछ पल ताकती रही। फिर बोली, "मिस्टर वर्मा कह रहे थे, तुम्हारे आ जाने से उनका भार काफ़ी हल्का हो जायगा। पिछले साल तुम्हारे नाटक को लोगों ने कितना पसन्द किया था, मिस माथुर, याद है न?"

रेखा के मन में एक पुलक-भरी मुस्कान आयी, पर ऊपर से वह संकोच में झुक गयी और एक उदार हँसी हँसकर बात बदल दी और कहने लगी कि जब वह बी० टी० की ट्रेनिंग में थी तो दिन कैसे बीत जाया करते थे।....किस-किस कवि-लेखकों से उसने परिचय बढ़ाया

और उन लोगों की प्रेरणा से स्वयं उसने कैसे एक दिन एक कविता लिख डाली और वह कितनी पसन्द की गयी....

आखिरी फ्री-पीरियड में मिस माथुर टीचर्स-रूम में आकर बैठ गयी। और दिन होता तो वह घर लौट गयी होती, पर आज वह मिस चौधरी की प्रतीक्षा कर रही थी।

पिछले साल वार्षिक उत्सव के अवसर पर ड्रामे आदि का सारा भार उसी पर था। रात-दिन जुटकर उसने एक अच्छे-से ड्रामे और डान्स के प्रोग्राम दिये थे और सबों की प्रशंसा की पात्र बनी थी। मिस्टर वर्मा (आर्ट टीचर) इस बार भी सारा भार उस पर ही डाल देने को हैं।

मिस माथुर मुस्करायी और आत्मसन्तोष के साथ वह खिड़की के बाहर देखने लगी। उसकी कल्पना रंगीन बल्ब और चमकते पर्दे वाले स्टेज, लोगों के अपार समूह और उत्सुकता से निहारती भीड़ पर अपने नाम के फैलते हुए प्रभाव को देख रही थी।....भीड़ में उसके क्वार्टर के आगे रहने वाला वह क्लर्क भी होगा, स्कूल में उससे जलने वाली टीचर्स होंगी, उसकी चर्चा-आलोचना करने वाले पड़ोसी होंगे और.... और वह प्राइमरी स्कूल का मास्टर भी होगा, जो....

रेखा के भीतर कोई चीज़ भरकर ओंठों पर बिछल गयी। तभी मिस चौधरी आयी। छुट्टी हो गयी थी और ढेरों लड़कियों का एक बढ़ता हुआ शोर फैल रहा था। रेखा मिस चौधरी के साथ बाहर आयी। पास वाले प्राइमरी स्कूल से छोटे-छोटे बच्चों का समूह कोलाहल करता निकल रहा था। रेखा ने अपनी आँखें उन प्रफुल्लित बच्चों पर डालीं और, जाने क्यों, एक पल के लिए उसका मन उदास हो उठा। ....उसके भीतर कभी-कभी ऐसा क्या कुछ सुलगने और बुझने लगता है ?

सहसा एक ओर इंगित कर मिस चौधरी बोली, "उन्हें देख रही हैं न, वही है उस ड्रामे का लेखक, जो अपने यहाँ खेला जा रहा है।"

रेखा ने देखा, बच्चों के बीच से वही मास्टर हाथ में एक मोटी-सी किताब लिये निकल रहा था।

रेखा ने आश्चर्य से पूछा, "क्या इसका ?"

"क्यों ? "मिस चौधरी मुस्करायी, तुम क्या विश्वास नहीं करतीं ?"

कुछ देर तक रेखा ने कोई जवाब नहीं दिया। चुपचाप चलती रही, फिर मुस्कराकर बोली, "नहीं, प्रसाद, प्रेमी और अश्क से भी विशेष कुछ इन्होंने लिखा है क्या, यही सोचती हूँ।"

मिस चौधरी हँसकर बोली, "शायद ! अच्छा, मिस माथुर, प्रतिभा क्या ख्याति-प्राप्त व्यक्तियों में ही होती है ? क्या यह सम्भव नहीं कि इन्होंने प्रतिष्ठित लेखकों से भी विशेष कुछ लिखा हो ?"

रेखा ने जवाब नहीं दिया। उसकी कल्पना में वह मास्टर उभरा, जिसके नाम तक से वह परिचित नहीं थी, पर जिसे पिछले कुछ वर्षों से वह जानती है और बराबर देखा करती है।

मिस चौधरी के बार-बार पूछने पर भी कि सहसा वह क्या सोचने लग गयी, उसका उत्साह इतना शिथिल-सा क्यों हो गया और वह अकारण ही कभी-कभी उदास क्यों हो जाती है, रेखा ने कुछ भी नहीं बताया, सिर्फ़ मुस्कराकर टाल गयी। उसके बाद मिस चौधरी नाटक के विषय में बातें करती रही कि उस नाटक की सफलता के लिए स्वयं हेडमिस्ट्रेस कितनी परेशान है, कौन-कौन लड़कियाँ पार्ट ले रही हैं और किन-किन नये लोगों को इस बार स्टेज पर उतारा जा रहा है। मिस माथुर चुपचाप सुनती रही। जब चौराहा आया तो मिस चौधरी को एक ओर की सड़क पर मुड़ने को छोड़

रेखा आगे बढ़ गयी।

*

रेखा उस नाटक में भाग न ले सकी, यद्यपि वर्मा जी ने बहुत आग्रह किया और हेडमिस्ट्रेस भी बुरा मान गयी। पर हेडमिस्ट्रेस नाराज़ न हो जाय, इसलिए अपनी असमर्थता बताते हुए उसने कहा कि वह उस कार्यक्रम को सफल देखने की पूरी-पूरी कामना करती है। भले ही नाटक में भाग न ले सके, पर अलग से तो वह अपना कोई प्रोग्राम दे ही सकती है। उसने हेडमिस्ट्रेस को आश्वासन दिलाया कि वह एक सुन्दर तथा कलापूर्ण नृत्य प्रस्तुत करने की अवश्य कोशिश करेगी।

नाटक की रिहर्सलें होती रहीं। रेखा तो बहुत बार वर्मा जी के बाध्य करने और वादा करने पर भी रिहर्सल-रूम तक नहीं जा सकी। लेकिन उसने अपने प्रोग्राम के लिए मैट्रिक की ग्यारह लड़कियों में से दीपिका को चुना। दीपिका के नृत्य पर रेखा को विश्वास था। उसकी रिहर्सल दिन में तीन-चार बार होने लगी। कठिनाई केवल इतनी थी कि लड़की बड़ी जल्दी घबराकर निराश हो जाती थी और सकुंचाती बहुत थी। रेखा को विश्वास दिलाने के जितने तरीके मालूम थे, सबका उसने प्रयोग किया और हर रिहर्सल में जितना उत्साह दिलाया जा सकता था, दिलाया।

जिस रात नाटक होने को था, उस दिन सुबह स्कूल आकर मिस माथुर फिर घर नहीं जा पायी। स्टेज यद्यपि बहुत पहले ही बन गया था और पूरी तरह सजाया भी जा चुका था, पर मिस माथुर को सन्तोष नहीं था। वह स्वयं अपने हाथों से कुछ जोड़ना-घटाना चाहती थी।

सब-कुछ ठीक करके, फ़ुट लाइट, साइड लाइट जलाकर उसने देखा और साँझ के पहले ही पूरी सज्जा के साथ दीपिका की ग्रैंड-रिहर्सल

ली। तब जाकर उसे ज़रा छुट्टी मिली और वह नहाने-धोने घर लौटी।

प्रोग्राम भले सात से हो, पर उसे तो जल्दी पहुँचना था। दीपिका का मेक-अप अपने सामने कराना था।

तेज़ क़दमों से रेखा अपने कमरे में आयी। और दिन होता तो वह गीला जिस्म तौलिये से सुखाती बड़ी देर तक गुनगुनाती रहती। गाना उसे नहीं आता था, पर फ़िल्मों की एकाध कड़ियाँ वह गुनगुना लेती थी। पर आज समय कितना कम था! उसने फुर्ती से तौलिया खींचा, गीली गर्दन पोंछी और अपनी दोनों हथेलियों को फैलाकर उस पर अपना चेहरा रख दिया। तौलिये के नर्म-नर्म रेशे कितने मुलायम थे! एक हल्की-सी कँपकँपी रेखा के पूरे बदन में दौड़ गयी और गुनगुनाहट का स्वर ज़रा ऊँचा करते हुए उसने सिमटे-बँधे बाल खोल दिये और सूटकेस खोलकर कपड़े निकाल, चट पहन, जल्दी बालों में कंघी फेरने लगी।

फिर भी जब रेखा पहुँची तो नाटक शुरू हो गया था और हाल पूरा भरा हुआ था। ग्रीन-रूम के दरवाज़े पर ही मिस चौधरी ने रेखा को आड़े हाथों लिया कि सारा सिंगार उसे क्या आज ही करना था। रेखा झेंपकर हँसने लगी। तभी ग्रीन-रूम से दीपिका भागी-भागी आयी और उतरे चेहरे से बोली, "बहन जी!"

"अरे दीपी, तेरा मेक-अप अभी तक नहीं हुआ क्या?" रेखा ने दीपिका के काँधे पर हँसते हुए हाथ रखकर पूछा। उस जगह शायद उसे नाराज़ होना था, पर वह जाने कैसे अपने स्वभाव के विपरीत मुस्करायी और पूरे उत्साह और प्रसन्नता के साथ दीपिका के कपड़े बदलवाये, अपने सामने मेक-अप करवाया और अन्तिम बार हिदायतें देकर, मिस चौधरी के साथ ग्रीन-रूम के बाहर आयी।

नाटक समाप्त होने में अभी दो दृश्य शेष थे। पर्दा गिरा हुआ था और हाल में लोगों का शोर गूँज रहा था। बीते दृश्य की आलोचना, हँसी-मज़ाक व फुसफुसाहटें, दबी-दबी हँसी, चूड़ियों की खनखना हट और सहसा गोद के किसी बच्चे के मचल उठने का स्वर....

स्टेज के कोने से, पर्दे के पीछे से रेखा ने लोगों की भीड़ पर उड़ती निगाह डाली। पर्दे पर कितने सारे लोगों की उत्सुक आँखें अटकी हुई हैं। उसकी आँखें बग़ल में खड़े ब्लैक-बोर्ड पर पड़ीं, जिस पर उस दिन का पूरा कार्यक्रम लिखा था, नाटक, उसके लेखक, निर्देशक, कलाकार और पार्श्व संगीतकार। रेखा की आँखें बिछलकर नीचे आ गयीं, नृत्य के प्रोग्राम के आगे दीपिका और उसके नीचे बड़े-बड़े अक्षरों में उसका नाम लिखा था, निर्देशिका कुमारी रेखा माथुर, एम० ए०, बी० टी०। क्षणकाल के लिए रुककर उसने फिर अपनी आँखें भीड़ पर डालीं, जहाँ उसके बहुत-से परिचित लोग और नाटक का लेखक भी था, जिसे उसने निमिष-मात्र के लिए भी नहीं देखा।.... और फिर नाटक शुरू हो गया। लेकिन उसे क्या? उसमें उसे क्या देखना था!....उस नाटक का एक भी दृश्य देख सकने का धैर्य आखिर उसमें क्यों नहीं है?

सहसा रेखा की आँखें चमकने लगीं और वह मुस्करायी। मिस चौधरी बड़े ध्यान से नाटक देख रही थी। अकारण ही कोई बात कहकर रेखा ने मिस चौधरी का ध्यान अपनी ओर आकर्षित किया और हँसी की बात न होने पर भी हँसने लगी।

उसके थोड़ी देर बाद ही नाटक समाप्त हो गया और चारों ओर तालियाँ गूँज उठीं। रेखा अपने कान पर हाथ रखे तेज़ी से ग्रीन-रूम में आयी। दीपिका तैयार ही थी। हाल की लाइट बुझी, स्टेज के फुट-बल्ब जले और एक कोने से रंगीन बल्बों ने अपनी रोशनी फेंकी और

रेखा ने हाल के सब लोगों के साथ सुना, लाउड स्पीकर में दीपिका के नाम के बाद ही उसका नाम काफ़ी सम्मान के साथ लिया जा रहा था।

नृत्य समाप्त हुआ, पर्दा गिरा और तालियों की आवाज़ हाल में गूँजने लगी, दीपिका अपनी उसी पोशाक में हाँपती-मुस्कराती आकर रेखा से लिपट गयी। रेखा ने बिना एक भी शब्द बोले उसे अपनी बाहों में भर लिया और उसके माथे पर अपने ओंठ रख दिये।

उसके बाद पुरस्कार-वितरण का कार्यक्रम था। दीपिका से अलग होकर रेखा मिस चौधरी के पास आयी। और उसके साथ ही अपने हृदय की धड़कनों को मुस्कराहट की परतों में छिपाती दर्शकों के बीच आ बैठी।

रंग-बिरंगी साड़ियाँ, हँसते-मुस्कराते चेहरे, तरह-तरह की खुशबूएँ....

ड्रामे का लेखक अपने हाथ में कोई मोटी-सी पुस्तक लिये अपने पास बैठे किसी मित्र के साथ बड़ी गम्भीरतापूर्वक बातें कर रहा था।

तभी जिलाधीश महोदय का भाषण प्रारम्भ हुआ।

रेखा ने उकताकर मिस चौधरी की ओर देखा और मुस्कराने लगी। तभी सहसा हाल में तालियाँ बज उठीं। लड़के शायद जिलाधीश के भाषण से ऊबे बैठे थे। छूटते ही तालियाँ पीटने लगे।

जिलाधीश महोदय उठे और प्रथम पुरस्कार की घोषणा हुई। रेखा शायद सुन न पायी। उसका हृदय ज़ोर-ज़ोर से धड़क रहा था और हथेलियाँ पसीने से गीली हो रही थीं। तालियों के मध्य उसने देखा, मास्टर अपने एक हाथ से धोती सम्हालते, चमचमाता कप लिये जिलाधीश के आगे झुक रहा है....

*

जब हाल खाली हो गया और ग्रीन-रूम नाटक में भाग लेने वालों

और स्कूल की दूसरी लड़कियों से भर गया तो वहाँ से निकलकर रेखा पीछे के बरामदे में आ गयी। ग्रीन-रूम में मास्टर लड़कियों और अध्यापिकाओं से अपनी प्रशंसा सुन रहा था और संकोच का अभिनय करता मुस्करा रहा था। उसे पुरस्कार में मिला कप बारी-बारी से सब के हाथों में घूम रहा था। सहसा रेखा की निगाह दीपिका पर पड़ी। वह द्वितीय पुरस्कार में मिली अपनी किताबों को उपेक्षा से सहेली को थमाकर आगे बढ़ी और मास्टर का कप देखकर नाटक की प्रशंसा करती उसकी ओर देखने लगी। मास्टर ने मुस्कराकर दीपिका पर अपनी आँखें टिका दीं। रेखा ने चौंककर देखा, दीपिका, जिसे वह शर्मीली और सुशील समझे थी, कितनी निर्लज्ज है! मास्टर की आँखों में कैसा भाव है!

रेखा वहीं अँधेरे में खड़ी रही। तभी मिस चौधरी ने आकर उसे पुकारा, "मिस माथुर!"

रेखा कुछ नहीं बोली। चुपचाप मिस चौधरी के साथ हो ली। मिस चौधरी रेखा के काँधे पर हाथ रखकर सहानुभूतिपूर्ण स्वर में कह रही थी, "मैं न कहती थी कि यहाँ पक्षपात-ही-पक्षपात है। नाटक में प्रथम पुरस्कार के योग्य ऐसा क्या था, बताओ तो!"

और रेखा कुछ जवाब दे कि मिस चौधरी फिर बोल उठी, "मैं जानती हूँ, तुम कुछ नहीं बोलोगी। पर, मिस माथुर, तुम्हारी आँखों में जो है, वह तो इस अँधेरे में भी नहीं छिप रहा है।"

रेखा के भीतर से जैसे कोई चीज़ एकबारगी उमड़कर गले तक आयी, उसके ओंठ दबे, काँपे, पर अपने को संयत कर उसने क़दम उठाया और बोली, "नहीं, वैसी कोई बात नहीं, ड्रामा वास्तव में अच्छा रहा होगा।"

* * *

राख

एक उजाड़-सी सुबह को जब कि ऊपर वाले वार्ड का मरीज़ लगातार दो महीनों की बीमारी के बाद पलंग से ज़मीन पर उतारा गया और एक लम्बी चीख़ के साथ उसकी लाश अस्पताल की पीली बिल्डिंग की पथरीली सीढ़ियों से उतार दी गयी तो सुरेन्द्र के पिता को बड़े अनुनय-विनय के पश्चात् ऊपर वाले वार्ड की वह जगह मिल गयी। जनरल-वार्ड के मरीज़ों की चिल्ल-पों और हो-हल्ला से सुरेन्द्र को उन्नीस दिनों के बाद मुक्ति मिली और ऊपर का एक अलग अच्छा कमरा मिल गया। पिता जी को आराम से लिटाकर उसने दवा पिलायी और सामने की छत पर आया। उस कमरे से लगे कमरे में जनपद के हेड-क्लर्क दत्त बाबू पिछले दो-तीन महीनों से पड़े थे। सुरेन्द्र ने उधर देखा, दरवाज़ा खुला था और दत्त बाबू आराम-कुर्सी पर बैठे अख़बार पढ़ रहे थे। दत्त बाबू ने उसे देख लिया तो सुरेन्द्र को न चाहते हुए भी उनसे मिलना पड़ा।

लगभग आध घण्टे तक दत्त बाबू के रोग, उसकी प्रबलता, दवा-दारू आदि पर निरर्थक बातें सुनकर जब सुरेन्द्र लौटा तो उसके पिता

के कमरे से लगे हुए दूसरे कमरे के दरवाज़े के पास एक पीली-पीली-सी औरत सिगड़ी में कोयले सुलगा रही थी। सुरेन्द्र ने एक उड़ती नज़र उस पर डाली। एक २३-२४ बरस की युवती, मामूली-सी हल्की-साड़ी, तितर-बितर हो रहे बाल....वह फिर घूमकर नीचे देखने लगा। हरी-हरी खूबसूरत दूबों वाली मखमली-कालीन कितनी दिलकश थी! उसके बीच का फ़ौव्वारा, इर्द-गिर्द नीले-पीले फूल....सूरजमुखी सुनहली धूप में जिस्म खोले धूप की रेशमी किरणों में नहा रही थी।....दूसरी ओर ड्रेसर गन्दे घाव धोकर सफ़ेद पट्टियाँ बाँध रहा था।

पास ही आपरेशन-रूम था। वहाँ की तेज़-तेज़ रोशनी में सैकड़ों औज़ार चमक रहे थे। वहाँ से चीख़ने की आवाज़ आ रही थी। उस आवाज़ में क्या था? नहीं, कुछ नहीं। वह आवाज़ पुरानी थी। वह एक मरीज़ की आवाज़ थी, और अधिक कुछ नहीं। वह बीस बरस का एक जवान लड़का था, एक ज़रा-सी चोट लापरवाही के कारण बढ़ गयी थी और आज उसकी एक टाँग काट डाली गयी थी। भरी जवानी में उसकी एक टाँग आज काट दी गयी थी। वह लँगड़ा होकर भी क्यों जीना चाहता था? उसकी जवान और सुन्दर बीवी, जो केवल ६ महीने पहले ही शादी करके लायी गयी थी, आज बहुत रो रही थी, क्योंकि उसका सुन्दर पति आज लँगड़ा हो गया था और वह अब एक अपाहिज की पत्नी कहलायेगी।

उधर औरतों का वार्ड था। क़तार में लगे लोहे के स्प्रिंगदार पलंग, गद्दे, जिनमें लोग मरते और जीते थे। उनके पलंगों के सीनों में कितने ही दर्दों का इतिहास गुँथा था।

यह अस्पताल था, मरीज़ों की ज़िन्दगी और मौत का स्थान! यहाँ राह का भिखारी भी, जिसे गज़-भर ज़मीन बैठने को नहीं मिलती, बीमार होकर स्प्रिंगदार लोहे के पलंग पर सोता था और सिविल सर्जन

उसके सिर पर हाथ फेरता था, यहाँ जनपद का हेड-क्लर्क दो-तीन महीने से बीमार हो पड़ा था। यहाँ एक बीस बरस के युवक की भरी जवानी में टाँग काटी गयी थी और उसकी जवान बीवी रोती थी। यहाँ सुरेन्द्र के पिता को १६ दिनों तक जनरल वार्ड में डाल रखने के पश्चात् एक व्यक्ति की मृत्यु पर ऊपर के वार्ड में जगह मिली थी और परिवार में अकेला सुरेन्द्र, पिता की सेवा के लिए बिना तनख़्वाह की छुट्टी पर रहता था। यहाँ एक २४ बरस की युवती सादी साड़ी पहने तितर-बितर हो रहे बालों में राख की परत लिये, सिगड़ी सुलगाती थी, उसका पति कैन्सर का रोगी था....

"मिस्टर सुरेन्द्र !"

सुरेन्द्र चौंककर पलटा। नर्स ने आगे बढ़कर कुर्सी खींची और सिविल सर्जन की ओर सरकायी। सिविल सर्जन ने बैठते हुए सुरेन्द्र की ओर देखा। सुरेन्द्र ने हड़बड़ाकर सहमे हुए स्वर में कहा, "जी नमस्ते !"

सर्जन की आँखें सुरेन्द्र के पिता की ओर झुकीं।

*

तीसरी रात, शाम से ही हवा के साथ घिरे आये काले मेघ बरस पड़े। भयानक गरज और बिजली की तेज़ चमक के साथ ही बड़ी-बड़ी बूँदें, लॉन पानी में डूब गया था। ठण्डी हवा और तेज़ हो गयी तो सुरेन्द्र ने खिड़कियों की चिकें गिरा दीं। ऐसी सर्दी में सुरेन्द्र के पिता के जोड़ों का दर्द जाग उठता है। पिता जी को कम्बल ओढ़ाकर उसने उनके कानों में मफ़लर लपेट दिया और स्वयं शाल ओढ़, एक उपन्यास लेकर आराम-कुर्सी पर लेट गया।

बाहर बारिश हो रही थी।

खिड़कियों से पानी की बूँदें टकरा रही थीं और झक्कड़ तेज़ चल रहा था। ऐसे मौसम में जाने सुरेन्द्र का कौन-सा ज़ख्म टीस उठा, जो जोड़ों के दर्द से कहीं ज़्यादा तकलीफ़देह था। ऐसे मौसम में उसका जी होता कि शाल में मुँदे-ढँके पड़ा रहे और बारिश की लय में डूबा कोई दर्दीला संगीत सुनता रहे। वह निढाल होकर आँखें बन्द कर खो जाय। बारिश में भीगी रात की साँसें कितनी दर्दीली होती हैं। बरसात की बूँदों के ज़मीन को चूमने की आहिस्ता-आहिस्ता आवाज़ें इतनी संजीदा क्यों हो उठती है?

जनरल वार्ड में आज एक नया मरीज़ आया था। उसका एक कन्धा टूट गया था। वह आदिवासी था, जंगलों में रहता था, आध गज़ कपड़े का टुकड़ा लपेटता था। उसकी बीवी ने क्रोध में आकर उसकी गर्दन पर कुल्हाड़ी चला दी थी। वह बच तो गया था, लेकिन चोट गहरी लगी थी। देहाती अस्पताल से नहीं सम्हला तो यहीं भेज दिया गया। वह शायद आज रात भर चिल्लायेगा और सुबह मर जायगा।

बारिश नहीं थमी। रात भर शायद न थमे। सुरेन्द्र का कच्ची दीवारों वाला मकान चू रहा होगा। उसके फ़र्श की सील गहरी हो रही होगी, पर उसे देखने वाला कोई नहीं। पानी चूने की जगहों पर पतीलियाँ और बर्तन कोई नहीं रख पायगा।

सुरेन्द्र हँसा।

बाज़ू वाले कमरे में दत्त बाबू सो गये थे। आज शायद उन्हें कुछ आराम था। दूसरी तरफ़ के कमरे में रोशनी थी। पीली-पीली-सी औरत। शायद वह जाग रही थी। शायद उसका पति पीड़ा से कराह रहा था और शायद....

दरवाज़ा आहिस्ते से खुला और ठण्डी हवा पूरे ज़ोर-शोर से कमरे

में घुस आयी। सुरेन्द्र का रोआँ-रोआँ हिल उठा। शायद आज बर्फ़ गिरेगी। उसने आँखें खोलीं। पिता जी सो गये थे। वह उठकर दरवाज़े के निकट आया। कैन्सर के रोगी की पत्नी दरवाज़े से लगी खड़ी थी। सुरेन्द्र का जी एकबारगी धड़क उठा। उसने घबराये और आश्चर्य के स्वर में कहा, "आप !"

उसने सुरेन्द्र के आश्चर्य की ओर ध्यान दिये बिना ही नीचे सिर किये भरे स्वर में अनुनय उड़ेलकर कहा, "थोड़ी तकलीफ़ करके असिस्टेण्ट सर्जन को बुला देते। उनकी तबीयत एकाएक बहुत ख़राब हो गयी है।"

आज भी उसके बाल बेतरतीब थे। उसका चेहरा पीला था। उसकी आँखें वीरान थीं, पर बालों में राख की परत नहीं थी। सुरेन्द्र ने बिना और कोई प्रश्न किये केवल एक बार उसके उड़ रहे बालों और सूखे, पीले उदास चेहरे को देखा, फिर आश्वासन देकर, उसी तेज़ बारिश में बग़ैर छाते के ही निकल पड़ा।

दूसरे दिन सुरेन्द्र को ज़ुकाम के साथ थोड़ी हरारत हो आयी। न चाहकर भी वह दिन-भर आराम-कुर्सी पर लेटा रहा। पिता जी के लाख पूछने पर भी कि वह इतना सुस्त क्यों है, उसने कुछ नहीं बताया। उठना न चाहते हुए भी वह पिता जी के सारे काम करता रहा। दवा पिलायी, बिस्तर बदला और जोड़ों पर मालिश करता रहा।

लेकिन दूसरी सुबह जब सुरेन्द्र ने फट रहे सिर और बुख़ार से मुँद रही आँखें लिये काँपते हाथों से पिता जी को दवा पिलायी तो कल तक की अपरिचित औरत नीली ने आकर गिलास अपने हाथ में ले लिया और सुरेन्द्र से हल्के स्वर में कहा, "आप आराम कीजिए !"

सुरेन्द्र केवल फटी आँखों से देखता रहा। यह कौन है ? उन बाप-बेटे के जीवन में सहसा इतना अधिकार लिये कैसे आ गयी ? यह तो

सुरेन्द्र की कल्पना है। उसकी कल्पना तो इन्द्रधनुषी है। उसके रंग छलनामय हैं। पर जो कुछ सुरेन्द्र आज देख रहा था, वह छलावा नहीं, सत्य था, क्योंकि नीली सादी-सी साड़ी का एक छोर कमर में खोंसे, बेतरतीब बाल लिये सुरेन्द्र के पिता को दवा पिला रही थी....

और एकाएक उसकी आँखों के आगे अँधेरा छा गया और सिर चकरा उठा। उसे नहीं मालूम किसने उसे अपने बाहुओं में सम्हाला, लेकिन जैसे बड़ी दूर से, स्नेह और अधिकार भरा किसी नारी का स्वर गूँजा, "आप उठ नहीं सकेंगे।"

सुरेन्द्र की आँखें भर आयीं। उसकी २१ साल की ज़िन्दगी में उसके लिए किसी नारी का स्वर नहीं उठा। यह पहला नारी-स्वर था, जिसमें स्नेह, अधिकार और आदेश था। उसने माँ की सूरत नहीं देखी, बहन उसके थी ही नहीं, और पत्नी ?

वह ६० रुपया पाने वाला क्लर्क था। उसे पत्नी रखने का कोई अधिकार नहीं था।

रात को उसने आँखें खोलीं तो देखा, नीली पिता जी के खिसक गये कम्बल को ठीक से ओढ़ा रही थी। सुरेन्द्र ने आँखेंमूँद लीं। नीली ने खिड़कियों की चिकें गिरायीं और दरवाज़े बन्द कर दिये। उस दिन काले बादलों से आसमान छिप रहा था और हवा की साँसें लम्बी हो गयी थीं। जाते-जाते उसने कुर्सी के नीचे लटक रहे शाल के छोर को ठीक किया और अपनी हथेली सुरेन्द्र की पेशानी पर रख दी।

उस स्पर्श से सुरेन्द्र के मन-प्राण सिहर उठे। उसके जी में आया कि वह नीली की हथेलियों में अपना चेहरा छिपा ले और खूब रोये.... खूब ! लेकिन बुख़ार का स्पन्दन लेकर नीली जा चुकी थी और सामने के दरवाज़े की साँकल हिल रही थी। शाल एक ओर फेंक वह बाहर आया। पूरा बरामदा सूना था। दत्त बाबू के कमरे का दरवाज़ा बन्द

था। वह नीली के पति के कमरे के पास आया। दरवाज़ा अन्दर से बन्द था। खिड़की के शीशे से उसने देखा कि नीली का पति एक हड्डी का ढाँचा था। उसका चेहरा सूख गया था और आँखें डरावनी हो गयी थीं। दाढ़ी के कुछ बाल पकने लगे थे। उसमें बोलने की शक्ति नहीं।....

नीली अपने पति के पास गयी तो उसने बड़े धीमे स्वर में कहा, "नीली, मेरे पास आओ!" और उसने अपनी टहनी की तरह सूखी बाहें फैला दीं। नीली उन्हीं बाहों में जाकर गुँथ गयी। अपनी भर्रा गयी आवाज़ से नीली के सिर पर हाथ फेरते उसने कहा, "तुम मुझे छोड़कर कहाँ चली जाती हो, नीली?"

नीली ने अपने को और झुकाकर आकुल स्वर में कहा, "देखिए, मैं आपके निकट ही तो हूँ।"

नीली का पति अपनी धुँधली आँखों में अविश्वास लिये नीली की ओर कुछ पल ताकता रहा। फिर बोला, "तुम भी मुझसे डरने लगी हो क्या, नीली? देखो तो तुम्हारा हरीश कैसा हो गया है! मेरी आँखें धुँधली होकर धँस गयी हैं। मेरे हाथ-पाँव दरख़्त की सूखी लकड़ियाँ हो गये हैं। जिस्म खोखला हो गया है। मैं उठ-बैठ नहीं सकता। मेरे ओंठ सूख गये हैं। तुम्हारा प्यार कम हो गया क्या?"

नीली का कलेजा जैसे टूक-टूक होकर बिखर गया। हरीश के कमज़ोर सीने में सिर रखकर वह ज़ोर से रो पड़ी, "नहीं, नहीं, नहीं!" फिर भावुकता के आवेश में उसने हरीश का चेहरा अपनी हथेलियों के बीच रख लिया, कुछ पल देखती रही। फिर रोने लगी, "इन आँखों में मेरा सुनहला संसार दफ़न है! ये ओंठ आज भी हरीश के ओंठ हैं, मेरे हरीश के!" और पगली नीली ने हरीश के सूखे पपड़ी जमे काले ओंठों को कई बार चूम लिया।

सुरेन्द्र स्वयं भी रो उठा। खिड़की से हटकर वह कमरे में आया। उसके जिस्म के पोर-पोर में आज इतना दर्द कहाँ से समा गया? उसके हाथ-पाँव इतने ढीले क्यों हो गये हैं? उसका मुँह बार-बार आज क्यों सूखता है? उसने अपने को निढाल-सा आराम-कुर्सी पर गिरा दिया। नीली साधारण नारी नहीं। नीली सादी साड़ी का एक छोर कमर में खोंसकर सिगड़ी सुलगाने वाली पीली औरत नहीं।....

रात सुरेन्द्र ने बुरे-बुरे सपने देखे—नीली पहले दिन वाली ही साड़ी पहने, वैसे ही एक छोर कमर में खोंसे, बेतरतीब बालों में राख की परत लिये, सिगड़ी में पड़े कोयलों को फूँकती है। कोयलों के सुर्ख जिस्म को राख ने अपने जबड़ों में दबोच लिया है। नीली के फूँकने से कोयले का जिस्म नहीं खुलता, केवल राख उड़ती है, नीली के बालों से लिपटती है और कोयले ढेर हो जाते हैं—उजली, भूरी, चित-कबरी राख का ढेर! लेकिन फिर भी उस राख के ढेर के निकट अपने खाली हाथ लिये नीली बैठी है। सुरेन्द्र कहता है, 'अंगारे राख हो गये, नीली, सुर्ख अंगारों के बाद राख के ढेर से जतलाया जाने वाला प्रेम झूठा है, केवल दिखावा मात्र।' नीली भर्राये स्वर में कहती है, 'तुम नहीं समझोगे, सुरेन्द्र, अभी भी राख में अंगारे छिपे हैं। राख अभी भी गर्म है। मैं अपना हाथ नहीं खींच सकती।'

'और जब ठण्डी हो जायगी तो?'

'जब ठण्डी हो जायगी तो उसे हाथों में समेटकर अपने सीने पर मल लूँगी। पर तुम कौन हो, तुम यह सब क्यों पूछते हो?'

सुरेन्द्र चौंककर उठ बैठा। बाहर बड़ी तेज़ बारिश हो रही थी। आधी रात के आँचल में सिमटकर रात रो रही थी। चारों ओर फैला एक अजीब-सा सन्नाटा! अस्पताल के मरीज़ों की थकन-भरी साँस नींद में तेज़ हो रही थी और बारिश के स्वर में मिल रही थी। जनरल वार्ड

से केवल एक आवाज़ आ रही थी, उसी युवक की रह-रहकर फैल उठने वाली चीख, जिसकी टाँग काट डाली गयी थी और जिसका घाव अब पक गया था।

*

उस दिन आसमान साफ़ था। केवल हल्के रेशमी बादलों के कुछ टुकड़े तैर रहे थे। हवा भी बड़ी हल्की थी। सुरेन्द्र उस दिन घूमने निकला। अस्पताल के हर कोने, हर कमरे और हर वार्ड से होकर गुज़रा। हर मरीज़ को ग़ौर से देखा। अस्पताल की छत की मुँडेर से झुका वह देर तक खड़ा रहा। आज नीले आसमान में बादलों के अलावा कुछ रंग-बिरंगी पतंगें भी उड़ रही थीं। बड़ी दूर बादलों के बीच उड़ती एक पतंग पर उसकी आँखें रुक गयीं। सुरेन्द्र को भी बचपन में पतंग उड़ाने का शौक़ था। बचपन की वे छोटी-मोटी घटनाएँ याद आयीं। पर जाने दो! आज तो सुरेन्द्र युवक है। वह पीछे की गोल चक्कर वाली सीढ़ियों से उतरकर दूर निकल गया। वह आज अकेले भटकना चाहता था। अस्पताल की हवा में मरीजों की साँस बसी है। वहाँ हर चप्पे से दवा की बास आती है। उसने मैदान की खुली हवा में सीना फैला-फैलाकर लम्बी-लम्बी साँसें लीं।

आज अस्पताल में एक साथ ही दो मरीज़ आये। एक किसी की बहू और किसी की बीवी, १८-१९ बरस की लड़की, जो प्रसव के बाद ही मर गयी। दूसरा एक बदनसीब युवक था। उसके पेट का आपरेशन हुआ था, लेकिन उसके टाँके टूट गये। हवा अन्दर चली गयी और वह मर गया। अन्त, जाने दो। यह कोई ज़रूरी तो नहीं कि अस्पताल में आया हर व्यक्ति ज़िन्दगी लेकर ही लौटे। पर सुरेन्द्र यह सब क्यों सोचता है? उसने अपने दिमाग़ को एक हल्का-सा झटका दिया।

दूर मैदान में बच्चे खेल रहे थे। शाम का साया फैला चला आ रहा था। क्षितिज की गोद में एक तारिका उठकर धीमे-धीमे अपना दीवट जलाने लगी। क्षितिज की गोद से आने वाली हवा कितनी ठण्डी थी! सुरेन्द्र को किसी कविता की एक पंक्ति स्मरण हो आयी :

'रात पगली रो रही है तारिकाओं का सुनहला स्नेह खोकर!'

जब वह लौटा तो अँधेरा गहरा हो गया था। अस्पताल की वह पीली बिल्डिंग सैकड़ों मरीज़ों को अपने उदर में लिये शाम के अँधियारे में तेज़-तेज़ रोशनियों में हँस रही थी। आज अस्पताल में इतना सन्नाटा क्यों है? स्वयं सुरेन्द्र का मन इतना सूना और उदास-सा क्यों है? वह ऊपर आया। दत्त बाबू की बीमारी कुछ बढ़ गयी थी, इसलिए दरवाज़े लगे थे। अपने कमरे की ओर बढ़ता सुरेन्द्र रुक गया। छत पर एक अँधेरे कोने में नीली खड़ी थी। उसकी आँखें अँधेरे में क्या ढूँढ़ रही थीं?

निकट आकर सुरेन्द्र ने हल्के स्वर में कहा, "अँधेरे में कैसे खड़ी हैं आप?"

नीली चौंकी। उसने लौटकर देखा और अपनी आँखें पोंछ डालीं। सुरेन्द्र ने चौंककर पूछा, "आप रो रही हैं?"

नीली ने सहमकर अपना आँचल सम्हाला, सिर झुकाया और आवाज़ साफ़ कर, सम्हलकर बोली, "नहीं तो!"

पर दूसरे ही पल नीली फूट पड़ी, "नहीं, मैं आपसे क्या छिपाऊँ कि मैं रो नहीं रही हूँ! मैं रो रही हूँ। देखा न आपने, मैं कितनी कमज़ोर हूँ। वे चिड़चिड़े हो गये हैं। पर आप नहीं जानते, सुरेन्द्र जी, वे मेरे बग़ैर मर भी नहीं सकते। सकीना की रूह भले उनके पलंग के गिर्द भटकती रहे और वे भले ही सकीना की याद करें, लेकिन वे मेरी गोद में ही मरेंगे!"

सुरेन्द्र कुछ नहीं बोल सका। उसे सान्त्वना देने के लिए उपयुक्त शब्द नहीं मिल पा रहे थे। निकट जाकर उसने नीली के सिर पर सहानुभूतिपूर्ण हाथ रख दिये, जिन्हें आदरपूर्वक सरकाकर नीली अपने हाथों में ले, उन पर अपना चेहरा रख फफक-फफककर रो उठी। और सुरेन्द्र अपना गीला हाथ लिये लौट आया। उसकी हथेलियों में आज नीली के आँसू सुलग रहे थे।

सकीना एक मुस्लिम परिवार की औरत थी, जो अपने पति को तलाक दे चुकी थी। उन दिनों जब हरीश नया-नया ही ओवरसियर होकर आया था, सकीना एकाएक हरीश के जीवन में आ गयी। जंगल और देहात में नीली अकेली रहा करती, हरीश तो सकीना में रम चुका था। हमेशा दौरे पर, शिकार पर, जंगल में वह उसके साथ होती। एक दिन शिकार में सकीना को ज़ख्मी चीते ने घायल कर दिया और दो महीने के बाद वह मर गयी।

आज सकीना की रूह हरीश के इर्द-गिर्द घूमती है और नीली कहती है कि वह उसे ले जायगी। उसके हरीश को ले जाने के लिए ही सकीना की रूह भटकती है। अपने कमरे में आकर सुरेन्द्र चुपचाप लेट गया। यहाँ अस्पताल में उसका जी घुटता। यह पीली इमारत और बिजली के तेज़ बल्ब उसे नोचते-से हैं। यहाँ हर दिन नये मरीज़ आते हैं। रोज़ नयी-नयी बीमारियाँ होती हैं। प्रतिदिन ही किसी-न-किसी के जिस्म की चीर-फाड़ होती है। रोज़ कोई रोता है और एक-दो दिनों में कोई-न-कोई मर जाता है। यहाँ नीली रोती है। हरीश रोता है और सकीना की रूह भटकती है।

सुरेन्द्र ने पिता जी के पलंग के पास जाकर सहसा कहा, "पिता जी, अब हम यहाँ नहीं रहेंगे। बिलकुल नहीं रहेंगे।"

*

घर आकर उसे लगा, जैसे वह अस्पताल से अच्छा होकर आया मरीज़ है। अस्पताल के उस वातावरण में सुरेन्द्र को लगता था, जैसे वह स्वयं भी कई महीनों का बीमार है। दूसरे दिन ही वह आफ़िस गया। पिता जी की दवाई वह अस्पताल से चपरासी भेजकर मँगा लेता। उसे अस्पताल से डर लगने लगा था। सुरेन्द्र अपनी कच्ची दीवारों के बीच शीत-भरी ज़मीन में मरना ज़्यादा पसन्द करेगा। जीवन के बहुत प्रारम्भ में उससे जब किसी ने पूछा था कि वह क्या बनना पसन्द करेगा तो उसने कहा था कि वह डाक्टर बनेगा। आज सुरेन्द्र को हँसी आती है, वह आज केवल एक आफ़िस का क्लर्क होकर रह गया। डाक्टर बनने के पहले पैसा चाहिए। पर सुरेन्द्र का हृदय भी तो डाक्टर बनने योग्य नहीं। वह भावुक है, पागल!

लगभग पन्द्रह दिनों के बाद एक दिन चपरासी के न आने पर सुरेन्द्र को स्वयं ही दवाई लेने अस्पताल जाना पड़ा। एक बार फिर उस ज़हरीले वातावरण में सुरेन्द्र को साँस लेनी पड़ी। वार्ड, मरीज़, आपरेशन, चीख-शोर, ज़िन्दगी और मौत!

दवाई लेकर, न चाहते हुए भी, वह सीढ़ियाँ चढ़कर ऊपर गया। आते वक्त वह नीली से मिल भी न पाया था। उस रात उसके गीले आँसू अपनी हथेली में लेकर ही वह चला आया था। सहसा अपने चले आने के विषय में वह नीली से क्या कहेगा? शायद नीली उससे पूछे भी न। वह कौन होता है? दो दिनों की बीमारी का साथ क्या कभी स्थायी होता है?

सुरेन्द्र हँसा और धड़कते दिल और तेज़ क़दमों से वह नीली के कमरे की ओर देखे बग़ैर ही दत्त बाबू के कमरे की ओर बढ़ा। उसके

क़दम लड़खड़ाने-से लगे। उसे आभास हुआ, जैसे किसी की आँखें उसका पीछा कर रही हैं और जैसे कोई उसे रोकने ही वाला हो। सपाटे से दत्त बाबू को पुकारे बिना वह दरवाज़ा खोलकर अन्दर घुस गया।

अन्दर आकर उसने साँस ली, पर अभी तक उसका दिल धड़क रहा था। थोड़ी देर तक उसकी समझ में न आया कि दत्त बाबू उससे क्या पूछ रहे हैं और वह क्या जवाब दे रहा है, लेकिन जब सुरेन्द्र सम्हला तो उसने पाया कि दत्त बाबू कह रहे थे, "ऐसे भागे कि आज सूरत दिखायी है! जाते वक्त मिलकर भी न गये। नीली को भी नहीं बताकर गये।"

सुरेन्द्र का जी एकबारगी धड़क उठा।

दत्त बाबू ने कहा, "जाते समय वह तुम्हारी किताबें दे गयी थी। उसका अब कौन रह गया!"

सुरेन्द्र सहसा तड़पकर चौंका। उसकी धड़कनें और बढ़ गयीं। सूखी-सी आवाज़ में उसने पूछा, "क्यों, क्या हुआ?"

"हरीश मर गया, तुझे नहीं मालूम क्या?"

और सुरेन्द्र कुछ पल जैसे जमा-सा रह गया। उसकी आँखें फटी-की-फटी रह गयीं। फिर सहसा सम्हलकर पता नहीं क्यों उसने झूठ कह दिया, "आँ....हाँ। कितने दिन हो गये, दत्त बाबू?"

"एक हफ़्ते से ज़्यादा हो गया, सुरेन्द्र! पिछले इतवार की रात को....बेचारी नीली! उसका भी कैसा भाग्य है! सुनता हूँ, उसके माँ-बाप कोई भी नहीं।....तुझे जाते-जाते भी कई बार याद किया था।" दत्त बाबू ने कहा।

सुरेन्द्र ने हाँपते-से स्वर में कहा, "पर दत्त बाबू, आपने यह तो नहीं बताया कि आप कैसे हैं?" बात बदलकर उसने सामने

देखा। सामने की उसी छत के अँधेरे में नीली ने उसकी हथेली में अपना चेहरा छिपाया था, उसके सामने रोयी थी और सुरेन्द्र केवल मूक खड़ा था।

दत्त बाबू शायद और कुछ कह रहे थे, लेकिन वह बिना कुछ कहे-सुने उठ खड़ा हुआ। नीली वाले कमरे का दरवाज़ा आज बन्द था। दरवाज़े के पास एक दिन नीली सादी साड़ी का एक छोर कमर में खोंसे सिगड़ी सुलगा रही थी....और एक दिन उसने कहा था, 'तुम नहीं समझोगे, सुरेन्द्र, अभी राख में अंगारे छिपे हैं, राख अभी भी गर्म है। मैं अपना हाथ खींच नहीं सकती।'

'और जब ठण्डी हो जायगी?'

'ठण्डी हो जायगी तो उसे हाथों में समेटकर सीने पर मल लूँगी। पर तुम कौन हो? तुम यह सब क्यों पूछते हो?'

*

सुरेन्द्र ने अपनी डबडबा आयी आँखें उस ओर से हटाकर सामने फैलायीं, सिर झुकाया, अपने आड़े-तिरछे हो रहे डगों को सीधा कर सीढ़ियों पर जमाया और रेलिंग का सहारा लेकर उतर गया।

* * *

ज़िन्दगी जलती है

मेरी शैल,

आज शायद मैं यह अच्छा नहीं कर रही कि तुम्हारी खुशियों से भरपूर दुनिया में, पाँच साल के बाद, फिर मैं अपनी उदास घटाओं को लिये उतर रही हूँ. ये वे घटाएँ हैं, जो नीले आसमान की सुन्दरता में धब्बे बनकर पर्वतों के ऊपर उभरती हैं, छाती हैं और हवा के झोंकों में कहीं उड़ जाती हैं। बरस सकना उनके भाग्य में नहीं।

शैल रानी, आज मैं, इसके पहले कि हमेशा-हमेशा के लिए मेरी आँखें मुँद जायँ, तुम्हारे आगे खुलकर खूब रो लेना चाहती हूँ। कदाचित् इसी से कुछ हल्की हो जाऊँ और मेरे मन-प्राण में एक मुद्दत से छाये हुए बोझ का बदरंग कुहासा कुछ छँट जाय। मैं जानती हूँ कि तुम्हारे सामने मैं कुछ भी नहीं कह पाऊँगी, सिवाय फूट-फूटकर रो लेने के और शायद मेरी बार-बार उमड़ उठने वाली हिचकियाँ मेरे ओंठों में ही घुट जायँ।

आज मैं ज़िन्दगी के पैंतीस सूने-सूने बरस बिताकर एक अधेड़ औरत हो गयी हूँ, मैं एक बूढ़ी हो रही कुँआरी हूँ, जिसकी आँखों से

ख़ुमार उतर चुका है और पुतलियों में संजीदगी आ गयी है; जिसके रुख़सारों के फूल अब मुरझाने लगे हैं। आज भी, शैल, मैं यक़ीन नहीं कर पाती कि जीवन के ये व्यर्थ पैंतीस बरस बिताकर केवल मौत का इन्तज़ार कर रही हूँ। जिस तरह आज की शैल, जो तीन बच्चों की माँ है, जिसके चेहरे की चमक अब धीरे-धीरे समाप्त होती जा रही है और जिसकी छातियाँ ढलककर बच्चों के ओंठों से जा लगी हैं, के पीछे १७ बरसों का यौवन, चंचलता और सौन्दर्य लिये तुम मेरे आगे उभरती हो, ठीक वैसे ही आज अपने को याद करती हूँ तो मेरे आगे वर्तमान मुँद जाता है और कहीं बहुत पीछे से, रेशमी बादलों की ओट अपना सौन्दर्य लिये हौले-से मुस्करा उठने वाली नीहार-बाला की तरह, अतीत के धुँधले पर्दों को चीरकर धीरे-धीरे एक सलोनी सलमा खड़ी हो जाती है।

कल कोई सात साल के बाद मैंने आईने में अपने आपको देखा। वैसे तो बार-बार आईना देखने की मेरी उम्र बीत चुकी है, लेकिन इन सात बरसों के बीच मैं एक बार भी आईने के आगे नहीं गयी। मैं क्या देखूँ, शैल, अपने को देखकर भावनाएँ अब थम नहीं पातीं। एक बड़ा ही करुण उन्माद हो आता है। फूट-फूटकर रोने को मन करता है, पर मैं रो नहीं पाती। कल की सलमा की लाश पर मैं खड़ी होकर आज सलमा की अधूरी ज़िन्दगी की कहानी कहूँगी और तभी मैं पूरे सन्तोष के साथ मर पाऊँगी।

आज से लगभग पन्द्रह बरस पहले जब तुम मुझे छोड़ गयी थी, मैं एक बीस बरस की जवान और खूबसूरत कही जाने वाली लड़की थी, जिसके शादी-रिश्ते के पैग़ाम कोई ग्यारह साल की उम्र से ही दूर-दूर से आने लगे थे और सहेलियों से लगातार प्रशंसा सुनकर कि सलमा कैसी लगती है, उसकी आँखें कैसी हैं, बाल कैसे हैं, चेहरे-मोहरे

में कैसी शाहज़ादी-सी लगती है, जो अकेले घण्टों ही आईने के आगे खड़ी रहती और सोचती, सामने आईने में पड़ रहा प्रतिबिम्ब यदि उसी का है, तो इस रूपसी का प्रियतम कैसा होगा....और उसकी कल्पना को कोई भी आधार नहीं मिलता और घण्टे-के-घण्टे सरक जाते....

तुम मुझे उस समय मिली, जबकि यौवन का आभास तुम्हें अभी-अभी ही हो पाया था, उस उम्र में, जब लड़कियों की आँखें खुली रह कर भी हमेशा ढँकी-सी होती हैं और सैकड़ों लोगों से बातें करते रहने पर भी मन कहीं और ही उड़ा-उड़ा फिरता है। कदाचित् मुझे तुम जैसी ही किसी सहेली की तलाश थी, जिसकी हल्की उम्र की कच्ची भावनाओं के साथ मैं उड़ पाती और नर्म-नर्म जज़बातों में पर लगाती। शायद हुआ भी यही। हम दोनों तब 'दो' कब समझे जाते थे। जहाँ कहीं किसी ने शैल को देख लिया, वह जानता था कि सलमा भी वहीं कहीं होगी, भले वह जगह कोई महफ़िल-मजलिस हो या किसी परिचित अथवा पड़ोसी का घर।

हम दोनों के बीच एक दिन दीपक आ गया, जिसने तुम्हें मुझसे धीरे-धीरे छीन लिया। मैं उसे ही अकेले क्यों दोष दूँ ? तुम स्वयं अपने आप ही मुझसे छिन गयी। दीपक एक सम्पन्न परिवार का अच्छा लड़का था। व्यवहार-कुशल, सुन्दर और हर तरह से तुम्हारे योग्य। तू बड़ी भाग्यशाली है, शैल, जिसे प्यार किया, उसे पा भी लिया। एक उम्र आती है, जब किसी के पैरों पर अपना सिर रखकर बड़ी राहत मिलती है। इनमें से कुछ ऐसी अभागिनें भी होती हैं, जिनके सिर के नीचे से पाँव अनजाने ही सरक जाते हैं अथवा सरका लिये जाते हैं।

एक दिन तुमने मुझसे पूछा था, 'सलम, सच कहना भला, क्या तुम्हारे मन में कभी किसी का भी खयाल नहीं सुलगता ?'

मैं तुम्हारे प्रश्न पर ठहरकर विचार करने लगी, क्या सचमुच ही

मेरे मन में किसी का ख़याल कभी कहीं सुलगा ? बचपन काफ़ी दूर छोड़ आयी हूँ, इसलिए तब की बात सोच सकना ज़रा कठिन है। जब से होश सम्हाला, मैं दीवारों की आड़ बन्द कर दी गयी हूँ। जो आ जाता है, उसी से ही मिल पाती हूँ। अब्बा का ख़याल था कि वे एक जागीरदार के ख़ानदान से ताअल्लुक़ रखते हैं। उनमें ख़ानदानी अकड़ और झूठी शान कुछ ज़्यादा थी, शायद इसलिए कि वे किसी रियासत के दीवान थे। भला बड़े लोग क्या हर किसी से मिलते हैं ?

आज जो मैं यहाँ तक पहुँच गयी, उसका कारण एक-मात्र क्या यही ख़ानदानी अकड़ नहीं है, शैल, बता तो ? तुम तो सब जानती हो कि बीस बरस से लेकर लगभग सत्ताइस बरस तक मेरे ब्याह के लिए कितने पैग़ाम आये और लौट गये। शायद मेरे अब्बा की निगाह में किसी भी लड़के का ख़ानदान उनके स्तर का नहीं था।

लोगों के कहने पर कि वे मेरा रिश्ता कहीं तय क्यों नहीं कर देते, वे कहते कि मेरे योग्य कोई लड़का ही नहीं मिल पाता, क्या करें ?

तुम मेरे साथ उन दिनों नहीं रही, शैल, अच्छा ही हुआ। अपनी ज़िन्दगी का एक दिन बिताकर मैं दूसरे दिन सोचती कि मेरी एक दिन बढ़ गयी उम्र ने मेरे एक दिन की लालसा-भरी ज़िन्दगी का गला मरोड़ दिया, इतने हौले कि और तो और स्वयं मुझे भी इसका एहसास नहीं हो पाता। और सत्ताइस बरस पार करते-करते मुझे तो विश्वास हो ही चला कि कदाचित यह जीवन मैं अधूरा लेकर ही आयी हूँ और अकेले ही किसी दिन बिना किसी का प्यार, मनुहार और दुलार पाये मुझे दम तोड़ना पड़ेगा। सुनती हूँ कि अधूरी हसरतें लेकर मर गये लोगों की रूहें भटकती हैं। मैं सोचती हूँ कि अगर यह सच भी हुआ, तो मेरी रूह किसके गिर्द भटकेगी, शैल ?

अपने पिता से घृणा करना सुनकर, पता नहीं, तुमको कैसा लगे,

किन्तु मैं आज अपने मन की आवाज़ को लाख चाहने पर भी दबा नहीं पाती हूँ। मेरे अब्बा की झूठी शान को तुम क्या कहोगी शैल ?

सत्ताइस पार करते-करते मैंने अपने को देखना बन्द कर दिया, मुझमें इतना साहस कहाँ था कि मैं अपने को देख पाती ? उसके बाद सिवाय रो लेने के मेरे पास और क्या बच रहा था ?

आह ! कहाँ गया वह रूप, वह सौन्दर्य ? रूपसी की वह शबनमी मासूमियत ! चेहरे की झुलस गयी रंगत में कहाँ थी वह केवड़ई, महकीली गोराई, जिसकी फिसलन पर प्यार के अतिरेक और आवेश से तेरे भी ओंठ कई पलों के लिए जा थमते ? कुछ नहीं था, शैल, वह शबनमी चाँदनी मुरझाकर पीली और मुर्दा हो गयी थी।

अब्बा तब भी मेरी ओर से आँखें मूँदे थे। कदाचित उस समय वे सहसा चौंके और अपना टूट-फूट गया अहंकार दफ़नाकर मेरे आगे आये जब कि मेरी छोटी बहन नजमा ने सामने रहने वाले एक मामूली क्लर्क से रोमान्स करके यह धमकी दे दी कि यदि उस लड़के से उसका ब्याह नहीं कर दिया जाता तो वह उसके साथ कहीं भाग जायगी। यही रास्ता यदि मैंने भी इख़्तियार किया होता और भाग जाने के बदले मर जाने की बात लिखी होती तो भी शायद अब्बा को बदल पाना असम्भव ही था। कल के अहंकारी और खानदान की आन पर मर मिटने वाले मेरे अब्बा मेरे आगे फूट पड़े। पर किसी तरह नजमा का ब्याह हो गया और सुख-चैन की लालसा लिये ब्याह के दो साल बाद ही अपने होने वाले बच्चे के साथ अपने जिस्म में मिट्टी का तेल छिड़क, आग लगाकर वह मर गयी।

अब्बा ने जब महसूस किया, तब बहुत देर हो चुकी थी, शैल ! मैं क्या करती ? अपने तीस साल के शरीर में मैं वह-सब कहाँ से लाती, जो एक पति को दुल्हन से चाहिए। अब्बा के ज़िद करने और बार-

बार रो पड़ने पर भी मैं फिर ब्याह के लिए तैयार न हुई। उसके लगभग एक साल बाद अब्बा चल बसे। सम्भव है, हम लोगों का सदमा ही उनसे उनकी ज़िन्दगी को छीन बैठा हो। मरने के दो दिन पहले अब्बा बहुत रोये, बहुत पछताये और बार-बार माफ़ी माँगी कि उन्होंने मेरी ज़िन्दगी खराब कर डाली। मैं क्या कहती शैल....मैं क्या कहती, बोल?

अकेले अब्बा को ही मैं दोष नहीं दूँगी। कहते हैं कि दुनिया में लड़की पैदा करने के पहले ही खुदा उसके लिए वर पैदा करता है। मुमकिन है कि यह ठीक हो, लेकिन मेरे लिए इसे सच करके मान सकना कठिन है। आज मैं पैंतीस बरस की हो गयी हूँ, मेरी पेशानी के ऊपर और कनपटियों के बाजू बाल सफ़ेद होने लगे हैं। मैं बेकार जीती ही हूँ, शैल, मेरी ज़िन्दगी का कोई मक़सद नहीं। मैं जानती हूँ कि चाहने पर मौत नहीं आयगी। मैं नजमा की मौत भी पसन्द नहीं करती।

तुझे शायद याद हो कि पिछली बार जब तू आयी थी तो हमारे यहाँ का पुराना नौकर टी० बी० का मरीज़ हो चुका था। वह कितना पुराना है और कब तथा कहाँ से आया, यह हम लोग भी नहीं जानते। जब से होश सम्हाला, मैं उसे अपने घर में ही देख रही हूँ। बीवी-बच्चे कोई नहीं, अकेला था, पूछने पर उसने एक बड़ी ही कड़वी मुस्कराहट के साथ शर्माकर बताया कि ब्याह के साल-भर बाद ही उसकी बीवी उसे छोड़कर मायके गयी और वहाँ उसने किसी और से ब्याह कर लिया। उसे अपनी जात की औरतों पर विश्वास नहीं, इसलिए वह तब से अकेला ही है। हमारे घर ही उसकी जवानी बीती, बाल पके और वह मर गया।

मरने के पहले जब वह अस्पताल से हमारे मकान के अहाते की

कोठरी (जो सारी ज़िन्दगी उसकी अपनी थी) में लाया गया तो उसके पास मैं अधिक आने-जाने लगी थी। योंही शैल, मेरे हृदय में उसके लिए एक बड़ी ही करुण ममता हो आयी थी। मैंने उसे दवा पिलायी। उसकी देख-भाल की। उसका बिस्तर लगाया और तू आश्चर्य मत करना, उसका सिर तक मैं घण्टों दबाती रही, यह जानते हुए भी कि टी० बी० कैसा रोग है और उसके रोगी कितने दिन जी पाते हैं।

वह अभागा नौकर, जिसने अपना जीवन हमारी नौकरी में बिता दिया, मुझे अपनी सेवा-टहल करते देख रोने लगता। उठकर मना करने की तो उसमें शक्ति ही नहीं थी। मेरी ओर फिरकर गीली हो उठने वाली उसकी पुतलियाँ और सूखे-काले गालों की रूखी सिलवटों में फिसलने वाली आँसू की आड़ी-टेढ़ी लकीरें मुझसे बार-बार कहतीं कि साधारण आदमी से ऐसी उम्मीद नहीं की जा सकती, मैं देवी हूँ! मुझे हँसी आती है, शैल, वह आदमी कितना मूर्ख था! दो दिन उसके पास बैठ गयी, बिस्तर लगा दिया, पेशानी पर हथेली धर दी और चार दिन दवा पिला दी और वह मुझे देवी कहने लगा। उसे क्या मालूम था कि मैंने किस स्वार्थ से उसकी सेवा की? वह सब कुछ होने पर भी एक पुरुष था, शैल!

एक पुरुष मेरे पिता थे, जिनके प्रति हृदय में सदैव विद्रोह सुलगा किया है। वे मुझसे स्नेह और सेवा अपने जीवन के अन्तिम दिनों में भी नहीं पा सके। सेवा-सुश्रूषा का नारी-सुलभ स्वभाव जो मुझमें था और जिसे मैंने किसी अज्ञात के लिए कल्पना में ही सँजो रखा था, अन्त में इस नौकर के लिए ही उमड़ पड़ा। यह भी तो एक प्रकार की वासना ही है न, शैल!

लगभग एक माह के पश्चात वह मर गया और छै माह के बाद मुझे भी टी० बी० हो गयी। मैं उस नौकर की बड़ी अहसानमन्द हूँ, रे

शैल ! आज वह होता तो मैं कृतज्ञ होकर उसके पाँवों पर अपना सिर रख देती। जीने की लालसा मुझमें अब नहीं रही।

कल डाक्टर आया था और मैंने सुन लिया कि मैं ज़्यादा दिन जी नहीं सकूँगी। पिछले डेढ़ बरस से मेरी ज़िन्दगी सुलग रही है—एक स्वर-हीन कड़ुवी और रूखी जलन, जिसमें किसी पल भी मैं अपने सारे स्वर समेटकर बुझ जाऊँगी। ठण्डी, मटियाली क़ब्र की पथरीली छाँव....

ओ मौत ! मैं तेरा आवाहन करती हूँ। आ, मेरी रक्त-मांस-हीन दुर्बल भुजाओं को सहारा दे, मेरी ज़र्द फीकी पुतलियों पर अपना काला पर्दा डाल और मेरी छटपटा रही साँस को अपने में बाँध ले, क्योंकि मेरी ज़िन्दगी जल रही है........

* * *

अपनी-अपनी राह

करीम का मज़बूत कलाई वाला हाथ लोहे के चमकीले और तेज़ सत्तुर के साथ उठा और कुन्दे पर रखी रान पर गिरा। एक खटाक की आवाज़ के साथ रान को चीरता सत्तुर कुन्दे पर गड़ गया, मांस के दो-चार बारीक रेशे उड़े और करीम के सामने लगी भीड़ के पास वाले आदमी की सफ़ेद क़मीज़ पर दो-तीन कत्थई-लाल रंग के धब्बे बैठ गये। दो हो गयी रान में से एक की बोटियाँ बनाते हुए करीम ने निमिष-भर के लिए भीड़ पर निगाह डाली और प्रतिदिन की तरह मुस्कराकर ऊँची आवाज़ से बोला, "क्यों रमज़ान भाई, एक तराज़ू और दूँ क्या?"

रमज़ान सामने बैठता था। उसके पास की भीड़ कम हो गयी थी। उसके बड़े, मोटे और पुराने कुन्दे पर, जिसका ऊपरी हिस्सा रोज़-रोज़ की मार से चूरा हो रहा था, एक सिर और कुछ पाये रखे थे और एक पाये की खाल वह छील रहा था। करीम का वह वाक्य प्रतिदिन की तरह ही फूटा था। उसमें कोई खास बात नहीं थी। दरअसल करीम जब काम से क्षण-भर के लिए भी अवकाश पाता, अपनी दुकान की ओर

दूसरी दुकानों की भीड़ देखता तो खुशी से छलककर बात करने का कोई सिलसिला पकड़ने या योंही बात करने के लिए यह वाक्य दोहरा देता, यद्यपि ऐसा अवसर एक बार भी नहीं आया कि रमज़ान ने उससे दो तराज़ू की माँग की हो। जवाब में रमज़ान कुछ नहीं बोला।

पिछली दोनों रानों की बोटियाँ बन गयीं तो करीम ने ग्राहकों की ओर ध्यान दिया। भीड़ शायद बड़ी देर से मांस की प्रतीक्षा में थी। समय आ गया देख भीड़ में से प्रत्येक की थैलियाँ खुल गयीं, आगे बढ़ आयीं और सबों ने प्रयत्न किया कि किसी तरह करीम का ध्यान अपनी ओर आकर्षित कर सकें। पर करीम के पास से गोश्त खरीदने में सब्र की आवश्यकता पड़ती है (जैसा कि करीम स्वयं कहता है।) अतः बड़ी देर से खड़े, थैलियाँ बार-बार आगे बढ़ाते हुए, बचों को बातों में उलझाकर करीम ने तराज़ू उठाया, पल्ले में मांस के अच्छे, कत्थई टुकड़े भरे, चर्बी की दूधिया लच्छी उलझायी, तौला और मास वाले पल्ले को ज़्यादा-से-ज़्यादा भारी बता, एक ओर खड़े चपरासी की थैली में फुर्ती से डालकर प्रतिदिन की तरह कहा, "सर्किल साहब से हमारा आदाब कहियो, भैया!"

भीड़ जब ज़रा कम हो गयी और करीम के आगे इक्के-दुक्के लोग ही रह गये तो करीम ने उड़ती निगाह रमज़ान की दुकान की ओर डाली। दुकान साफ़ थी, तराज़ू और बाट एक ओर उपेक्षित पड़े थे और रमज़ान बड़े ध्यान से पैसों का हिसाब कर रहा था।

रमज़ान करीम के पास आया और मुस्कराकर बोला, "क्या हाल है?"

करीम ने फीके ढंग से हँसकर कहा, "आज एक-डेढ़ से अधिक नहीं बच पायगा।"

रमज़ान थोड़ी देर आश्चर्य से करीम की ओर देखता रहा, फिर

बोला, "बस ? मैं अपने साथ आज आठ रुपये बचाकर ले जा रहा हूँ, और इतना गोश्त। ईमानदारी लेकर तुम जी सकते हो, करीम, मैं एक-डेढ़ कमाऊँ तो बाल-बच्चों को क्या खिलाऊँगा ?"

रमज़ान के जाने के बाद करीम ने अपने पैसों का हिसाब लगाया। उसका अन्दाज़ ग़लत था। आज उसके पास शायद एक से भी कम बचेगा। सिर, पाये और खाल से शायद तीन-चार और मिल जायँ, पर इतने से क्या होगा ? रमज़ान प्रतिदिन कम-से-कम पाँच-सात तो बचा ही लेता है, सिर, पाये, खाल अलग और तौल में मारा हुआ गोश्त कभी-कभी चार सेर तक पहुँच जाता।

करीम का व्यापार करने का ढंग दूसरे क़साइयों से अलग था। जानवर ख़रीदने में वह जानवर की क़ीमत से ज़्यादा उसकी तन्दुरुस्ती का ख़याल करता था। तन्दुरुस्त और अच्छे जानवर ख़रीदने में यदि करीम को दो-चार अधिक भी देने पड़ते तो भी वह उस पर कभी नहीं सोचता। रमज़ान की बात दूसरी थी। मरियल-से-मरियल और बीमार-से-बीमार जानवरों को पास करवा लेना उसके लिए मामूली बात थी। जिन दिनों डाक्टर शहर से बाहर दौरे पर होता, रमज़ान के इकट्ठे किये जानवर, मरियल, बीमार, सभी निकल जाते। डाक्टर भले रमज़ान का खयाल न करे, पर मुंशी सीधा और समझदार आदमी था। सुबह-सबेरे उसकी हथेली में रुपये आ जाते तो उसे क्या पड़ी थी कि किसी की रोज़ी-रोटी के आगे आये, आख़िर उसके भी तो बाल-बच्चे थे। उसकी राय के मुताबिक़ करीम एक निहायत ही बेवक़ूफ़ आदमी था। भला रोज़गार ऐसे होता है ? उम्र के बरस ज़िन्दगी में जोड़ लेना और बात है और दुनिया देखना और। उसने रमज़ान के द्वारा कहलवा दिया कि मियाँ, ईमानदारी और रोज़गार दो अलग-अलग चीज़ें हैं, साथ-साथ नहीं चल सकतीं।

करीम थोड़ी देर हँसता रहा, फिर सहसा गम्भीरतापूर्वक उसने पूछा, "मुझे एक बात बताओगे, रमज़ान ?

"क्या ?"

"हर दिन तौल में कितना गोश्त मार देते हो ?"

पल-भर के लिए रमज़ान चुप हो गया, फिर हौले से मुस्कराकर, जैसे कोई राज़ की बात कह रहा हो, बोला, "एक सेर से तीन सेर तक । क्यों ?"

करीम बोला, "कुछ नहीं । बहुत दिनों बाद आज माँ की एक बात याद आ गयी । कहती थी कि जो दुनिया में गोश्त की चोरी करता है, क़यामत के दिन खुदा उसके ज़िस्म से उतना ही गोश्त चिमटे से नोच लेता है ।"

रमज़ान ठहाका मारकर हँसने लगा, फिर हँसता हुआ बोला, "तुम तो बच्चों की तरह बातें करते हो ।

*

नौ-दस की उम्र में, जबकि लड़कों को खेल से ही अवकाश नहीं मिल पाता, करीम ने ग़ालिब की कई ग़ज़लें याद कर डाली थीं । लड़कों और मास्टरों का खयाल था कि आगे करीम ज़रूर एक शायर होगा किसी ज्योतिषी ने भविष्यद्वाणी की थी कि करीम ऊँची शिक्षा पाने विदेश जायगा ।....ऐसी बातें सुनकर उस समय क्या करीम ने कभी सोचा था कि वह बाज़ार में बैठकर एक दिन गोश्त काटेगा ?

माँ का साया बचपन में ही उठ गया था । जब तक बाप ज़िन्दा रहे, करीम की पढ़ाई किसी तरह रोते-गाते चलती रही, पर उनके बाद जब केवल भाई-भाभी का सहारा रह गया तो करीम से आगे नहीं चला गया । तेरह की ही उम्र में करीम घर छोड़कर आज़ाद हो गया । अपनी

ज़िन्दगी का प्रारम्भ उसने किसी दूर के शहर में होटल की प्लेटें साफ़ करने से किया और उन्नति करता-करता बस की कण्डक्टरी तक पहुँच गया, पर मोटर वालों की ज़िन्दगी हमेशा बे-ठिकाने की होती है, अतः एक दिन करीम ने वह नौकरी भी छोड़ दी।

जब वह यहाँ आया तो उसकी हालत अच्छी न थी। बस-सर्विस के ज़माने में वह कई बार यहाँ आ-जा चुका था और खूब मेल-मुलाक़ात बढ़ा ली थी। इसलिए जब यहीं के किसी पहचान वाले ने चले आने के लिए ज़ोर दिया तो उसने दूसरे दिन ही उसे अपने आने की सूचना भेज दी। पिछले कई वर्षों से कभी एक जगह टिककर वह नहीं रह पाया था। नौकरी करते-करते वह इतना ऊब चुका था कि कुछ दिन एक जगह टिककर वह आराम करना चाहता था। अभी वह यहाँ आया ही था कि रमजान से उसकी मुलाक़ात हुई। उसे एक आदमी की ज़रूरत थी, पर क़साईख़ाने में काम करने से उसने इन्कार कर दिया। करीम भले ग़रीब परिवार का हो, पढ़ा-लिखा न हो, भले होटल में प्लेटें साफ़ की हों, पर उसके ख़ानदान में कोई खोट नहीं था। उसके बाप ने जीवन-भर सरकारी नौकरी की थी। कभी-कभी वह अच्छी ग़ज़ल कह लेते थे। जीवन में कभी एक भी नज़्म अख़बार में नहीं आयी, पर शहर के किसी भी मुशायरे में उनका नाम सबसे पहले लिया जाता था। बड़ों-बड़ों तक उनकी पहुँच थी, अतः करीम का बड़ा भाई उनके जीवन-काल में ही किसी दफ़्तर का बाबू बन गया था। करीम अपने नाम के साथ क़साई सुनने को बिलकुल तैयार नहीं था। क़साई कहने के साथ ही एक कितनी निर्मम, निर्दयी और खूँख़ार आकृति नज़रों के सामने आ जाती है। करीम तो एक शायर का बेटा था!

एक महीना और बीता और करीम किसी हीले से नहीं लग पाया तो उन दुकान वालों ने उधार सामान देना बन्द कर दिया, कुछ कड़वी

बातें भी कह दीं। अपने बाप के चन्द बाज़ारी किस्म के शेर, जिन्हें सुना-सुनाकर करीम उन लोगों को उलझाये रखता था, अब बे-असर हो गये। विवश हो उसने एक दिन रमज़ान के साथ काम करना स्वीकार कर लिया, लेकिन उसने साफ़ कह दिया कि वह रमज़ान के साथ दुकान पर नहीं बैठ सकता। पहले करीम का काम हर बाज़ार के दिन जानवर ख़रीदने में रमज़ान की मदद करना, मुँह-अँधेरे उठकर ढोर-अस्पताल से जानवर पास कराना, ज़िबह करना, छीलना और उजाला फूटने के पहले दुकान में पहुँचा आना भर था। मुश्किल से यह सिलसिला दो माह तक चला। उसके बाद न चाहते हुए भी, दुकान में अधिक भीड़ होने, रमज़ान की तबीयत एकाएक ख़राब हो जाने या कभी किसी आवश्यक कार्यवश अनुपस्थित रहने पर, उसे दुकान पर बैठना पड़ता।

धीरे-धीरे उसे विश्वास होने लगा कि धन्धा भले दूर से ख़राब दिखे, वैसे बुरा नहीं। रमज़ान की बीवी के कान सोने की मोटी-मोटी बालियों से झुके पड़ते थे। रमज़ान की इज़्ज़त करीम से कई गुनी ज़्यादा थी। रमज़ान कहता था कि पेट के लिए किया कोई भी धन्धा बुरा नहीं। दुनिया का हर आदमी पैसों के पीछे भागता है, सिर्फ़ अपनी-अपनी राह अलग होती है।

जिस दिन करीम की समझ में यह बात आ गयी, उसके दूसरे दिन ही उसने अपना हिसाब करवा लिया। कुछ दिनों म्युनिसिपेलिटी के सेनिटरी इन्सपेक्टर के पीछे भागता फिरा और लाइसेन्स किसी तरह निकलवाकर रमज़ान के सामने ही अपनी दुकान खोल डाली। पहले-पहल ग्राहक कम थे, पर धीरे-धीरे अधिकांश लोग उसकी ओर ही खिंच आये क्योंकि करीम न सिर्फ़ अच्छा मांस बेचता था, बल्कि तोल में भी एक बोटी इधर-उधर न करता था। जब तक क़रीम रमज़ान के

साथ काम करता था, उसका रहना-सहना उसी के घर में था, पर अलग होने के बाद मकान की बात आयी। रमज़ान ने ही उसका इन्तज़ाम कर दिया। उसके एक दूर रिश्ते की बहन ज़हीरा के मकान में उसे दो कमरे मिल गये। ज़हीरा बेवा थी और उसकी एक बच्ची थी। ज़हीरा के पास जितनी ज़मीन थी, उसके गुज़ारे के लिए काफ़ी थी। मकान का एक हिस्सा उसने कुछ तो यह सोचकर भी करीम को दे दिया कि वह बच्ची के साथ अकेली रहती थी, एक आदमी का सहारा रहेगा।

*

तहमद अलग कर करीम ने रस्सी में टाँग दी, क़मीज़ एक ओर डाली और जैसे टूटकर खाट में पड़ गया। खाट के कोने में तीन दिनों पहले की खाल पड़ी थी। उसमें से अब महक आने लगी थी। दूसरी ओर के कोने में अनबिके पाये और छुरी-सत्तुर पड़े थे। दूसरे कमरे में करीम के जानवरों की महक, उनके खुरों के निशान और गन्दगी के सिवाय कुछ नहीं था। रस्सी पर तहमद लटक रही थी। उसका आधे से अधिक हिस्सा गन्दगी के साथ खून के लाल-मटमैले धब्बों से भरा हुआ था।

बाहर दोपहर की धूप यूक्लिप्टस के तनों और पीपल के नये सुर्ख और चिकने पत्तों पर फिसल रही थी। हवा में एक तैरती हुई संजीदगी के साथ बाजू वाले कमरे से ज़हीरा की बड़ी हल्की-हल्की गुनगुनाहट का स्वर फैल रहा था। ज़हीरा करीम से पर्दा नहीं करती। स्वभाव से ही वह कम बोलने वाली है। जब वह पहले-पहल उस मकान में आया तो उसके सामने वह न आती थी। रज़िया उसकी बड़ी प्यारी बच्ची थी। करीम को बच्चों से ज़्यादा लगाव नहीं था, फिर भी एक दिन वह रज़िया का 'मम्मा' बन गया और संकोच की जो दीवार थी, वह धीरे-

धीरे हट गयी।

प्रतिदिन की तरह ही ज़हीरा रज़िया को सुलाने का प्रयास कर रही थी। वह गीत, वे बोल, वह स्वर और उसकी मिठास सब-कुछ केवल रज़िया के लिए था। क्षण-भर के लिए करीम के मन में एक मोह उठा कि ज़हीरा रज़िया को अपने आँचल में समेटे कैसी लगती है, वह छिपकर देख ले, पर वहाँ से वह उठ नहीं पाया और ज़हीरा की आवाज़ धीमी होती-होती डूब गयी।

पलकें मूँदीं तो करीम को लगा, जैसे ज़हीरा का गीत उसके बन्द पपोटों को छेदता हुआ उसकी आँख में भर रहा है और हृदय में बहुत भीतर तक सहसा कोई चीज़ उतरती जा रही है....उतरती जा रही है। और कुछ यों जैसे कि पीपल के सैकड़ों सुर्ख नाज़ुक और नर्म-नर्म पत्तों के चिकने रुख़सारों पर उसने गाल धर दिये हों....

अनायास उसके भीतर से कोई चीज़ मथती हुई उमड़ी और पलकों को गीला करने लगी।

*

अँधेरा, यहाँ से वहाँ तक अँधेरा, करीम के कमरे से लेकर आँगन, पीपल के दरख़्त और आसमान के सितारों तक। दोपहर में करीम जिस जगह लेटा था, वहीं शाम हो गयी, अँधेरा हो गया। रात के ठण्डे दामन से लिपटी पास-पड़ोस की रसोई से उठ रही साग के छौंके जाने की सोंधी महक आ-आकर उसके नथुनों से टकराने लगी।

आँख खुलने के साथ ही रज़िया की नन्हीं हथेली करीम के माथे पर पड़ी। वह पास ही खड़ी सहमी हुई-सी देख रही थी। आँगन के कोने में ज़हीरा बैठी लालटेन जला रही थी। करीम घबराकर उठ बैठा और आश्चर्य से बोला, "तुम कब से आयी हो?"

काँच में कई दिनों का धुआँ अँटा था, बिलकुल मद्धिम-सी रोशनी लिये ज़हीरा करीम के पास आयी और लालटेन रख दी। रज़िया ने ज़हीरा के कुछ बोलने के पहले सारी शिकायतें कर डालीं—वह दिन-भर लेटा क्यों रहा? टाफ़ी क्यों नहीं लाया? शाम को घूमने क्यों नहीं गया? करीम ने एक प्रश्न-सूचक दृष्टि ज़हीरा के चेहरे पर डाली, वे सारे प्रश्न, जो रज़िया ने किये, क्या ज़हीरा के भी हैं? परिचय के बाद पहली बार इतने पास से और बिना पलक झुकाये एकटक वह ज़हीरा की ओर देखता रहा।

ज़हीरा ने धीमे स्वर में प्रश्न किया, "तुम्हारी तबीयत क्या खराब है?"

"नहीं तो, मैं ठीक हूँ।"

ज़हीरा कम बोलती थी। वह अनायास उठ खड़ी हुई तो करीम ने रोकते हुए कहा, "ज़हीरा, एक बात सुनो।"

ज़हीरा खड़ी हो गयी। पर कई क्षणों तक करीम कुछ नहीं बोला। जब रज़िया को लेकर ज़हीरा दरवाज़े तक चली गयी तो तेज़ी से उसके सामने जा, रज़िया को समेट लिया और उसकी आड़ में बड़ी कठिनाई से बोला, "मुझसे निकाह करोगी?"

मौन और निस्तब्धता का एक पल, दो पल और कई पल। करीम ने ज़हीरा की ओर नहीं देखा। रज़िया के नन्हें जिस्म में अपना चेहरा डाल, साँस रोके सिर से पाँव तक कान बना वह बड़ी देर तक धड़कता दिल लिये खड़ा रहा। और फिर अपनी डबडबा आयी आँखें उठाकर देखा तो ज़हीरा जा चुकी थी।

*

अगली सुबह करीम देर से सोकर उठा। उस दिन कुछ भी करने

को मन न हो रहा था, अतः दोपहर हो गयी और करीम कहीं गया नहीं। रज़िया आयी। उसमें न उल्लास था, न भोलापन, उम्र से बहुत ज़्यादा रुखेपन और संजीदगी के साथ बोली, "अम्मी कहती हैं कि तुम अच्छे आदमी नहीं हो, इसलिए मकान ख़ाली कर दो।"

करीम की ज़बान से कुछ नहीं फूटा। यह कहकर बिना एक पल रुके लौट रही रज़िया के भूरे-भूरे रेशमी बालों, रंगीन रिबन और गुलाब के बूटों वाली फ्राक पर अपनी आँखें अटकाये वह खड़ा रह गया।

बाहर की धूप में चिलचिलाहट थी। पास के नीम की छाँव-तले पड़ोस के ढेर-से बच्चे खिलौनों में डूबे थे। कितनी उदास-उदास-सी दोपहर थी। शायद परिन्दों के डैने थक गये थे।

ज़हीरा अपने ताज़ा धुले, गीले और फैले बालों को कन्धों पर बिखेरे सामने की रस्सी पर गीले कपड़े सूखने के लिए डाल रही थी। ब्लाउज़ नहीं, सिर्फ़ साड़ी में थी। उसकी कन्धे तक खुली गोरी, चिकनी और मांसल बाहें धूप में चमकीं, चेहरे का गोरा रंग तमतमाया और गालों में कच्ची-प्याज़ की रंगत आ गयी। केवल निमिष-भर के लिए रज़िया पर अपनी नज़र डाल ज़हीरा ने कन्धों पर बिखरे गीले बालों को एक झटके के साथ सामने फेंका, स्वयं थोड़ा झुकी और गर्दन एक ओर टेढ़ी कर गीले बालों को हथेली से फटकारने लगी। चिकने, काले, लम्बे और पानी चू रहे बालों में तौलिये के लगातार टकराने की आवाज़—चटाख....चटाख....

करीम के बाहर-भीतर भी जैसे इसी तरह का कोई शब्द गूँज रहा था।

*

दियासलाई की तीली ने जितनी रोशनी उछाली, उस मुट्ठी-भर

प्रकाश में ज़हीरा का चेहरा केवल क्षण-भर के लिए चमका और बुझ गया। जली हुई सलाई फेंककर करीम बोला, इतनी रात गये क्या तुम मुझे निकालने आयी हो?"

कमरे में अँधेरा था और बाहर पिछले दो घण्टों से लगातार हो रही बारिश का शोर फैला हुआ था। हवा में ठण्डक के साथ काँटे भी थे।

ज़हीरा ने करीम के प्रश्न का उत्तर नहीं दिया। शायद वह वहीं खड़ी थी। बोली, "रोशनी करो।"

करीम ने कहा, "नहीं अँधेरा ही रहेगा, जलाने को तेल नहीं।"

अँधेरा, यहाँ से वहाँ तक अँधेरा!

करीम ने दियासलाई जलायी। ज़हीरा बोली, "तुम्हारा लाइसेन्स रद्द हो गया, क्या यह सच है?"

"हाँ!"

"सुनती हूँ, रमज़ान बिना पास किया मांस बेचते पकड़ा गया और इल्ज़ाम तुमने अपने ऊपर ले लिया!"

"हाँ, धन्धा है, बेईमानी क्या मैं नहीं कर सकता?"

"तुम क्या मुझसे बहस करोगे! रमज़ान को मैं जानती हूँ। बेईमानी किये बिना वह जी ही नहीं सकता। उसकी बीवी उससे भी अधिक लालची है। उसे सिर्फ़ सोना चाहिए। क्या यह बात तुमसे छिपी है?"

कई मिनट बीत गये। बाहर बारिश की रिमझिम हो रही थी कमरे में और यहाँ से वहाँ तक अँधेरा। अपनी जगह से हटकर करीम उस जगह आया, जहाँ ज़हीरा खड़ी थी। दियासलाई जलायी और जब तक तीली जलती रही, उस रोशनी में उसके चेहरे को देखता रहा। लौ जब बुझी और तीली पर आग की नन्हीं लकीर-भर बाकी

रह गयी तो उसे फेंककर करीम बोला, "ज़हीरा, सौदा कौन नहीं करता? उस दिन रज़िया को समेटकर जो सौदा मैंने तुमसे करना चाहा, वही सौदा आज केवल राह बदलकर तुम मुझसे करने आयी हो। तुममें, मुझमें और रमज़ान में क्या अंतर है?"

केवल बरसात का संगीत, झक्कड़ और दरवाज़े के पल्लों के खुलने-मुँदने का स्वर और सन्नाटा। दियासलाई फिर जली और अधजली तीली एक ओर फेंककर उस तेज़ बारिश में ही करीम बाहर निकल गया।

* * *

बबूल की छाँव

उषा ने क्रोशिया एक ओर रखकर उँगलियाँ चटखायीं, दोनों आँखों पर हथेलियाँ रखकर मलीं और फिर कमर सीधी करती हुई बोली, "अब थक गयी।"

मिसेज़ सेन ने उषा की बात पर ध्यान दिये बिना, जैसे कोई बहुत ही महत्वपूर्ण बात छूटी जा रही हो और एकाएक स्मरण हो आयी हो, बोलीं, "एक बात तुमने सुनी क्या?"

उषा सचमुच ही थक गयी थी। उसे वैसे भी मिसेज़ सेन की कोई बात दिलचस्प नहीं लगती थी और उस समय तो मिसेज़ सेन दो घण्टों से बैठी-बैठी उसका माथा चाट गयी थीं। अब उसकी ऊबाहट और बार-बार की जमुहाई और बिला-वजह की मुस्कराहट का बिलकुल ही खयाल किये बिना, मिसेज़ सेन फिर एक नयी बात शुरू करने लगीं तो उसे बड़ी खिजलाहट-सी लगी। वह चाहती थी कि अब मिसेज़ सेन चली जायँ और दोपहर के शेष समय में वह थोड़ा सो ले। पर बातें करते मिसेज़ सेन न तो स्वयं थकतीं और न दूसरों के थकने या ऊबने का उन्हें एहसास होता।

उषा के पति हरीश बाबू जब ट्रान्सफ़र होकर इस छोटी-सी उजाड़ तहसील में आये तो कई महीने अकेले ही रहे। काफ़ी कोशिश करते रहे कि किसी तरह वहाँ से ट्रान्सफ़र हो जाये, पर अफ़सरों के यहाँ घी के टिन और मुर्गियों की टोकरियाँ पहुँचाने पर भी जब उनके ट्रान्सफ़र का आर्डर न निकला तो बाध्य होकर उन्हें उषा को बुलवा ही लेना पड़ा। पहले-पहल उषा बहुत घबरायी। कितना उजाड़, सुनसान, जंगली इलाका है, जैसे कोई जीवन ही न हो। उसे विश्वास न था कि उस मनहूस जगह में वह महीने-भर भी रह पायगी।

सुबह होती है, गिने-चुने चार-छै मकानों से आफ़िसर और बाबू निकलते हैं और दफ़्तर चले जाते हैं। फिर सड़क सूनी। वातावरण मौन और मृत। दोपहर कितनी वीरान सन्नाटे में डूबी होती है। बस, एक पहाड़ी नदी के बहने और पत्थरों के टकराने का मद्धिम स्वर सुनायी पड़ता रहता है और कभी-कभार तहसीलदार साहब के बँगले से (यदि रेडियो लगा हो तो) किसी फ़िल्मी गाने की एक-दो कड़ियाँ तैरती आकर पहाड़ी नदी के स्वर में मिल जाती हैं और उषा के ओंठों पर मुद्दत के बाद गीत की कड़ी आती भी है तो अधूरी और अस्पष्ट।

शाम को एक बार सड़क फिर जागती है और रात का आँचल फैलते ही पूरा गाँव सो जाता है। फिर कोई स्वर नहीं। केवल पहाड़ी नदी का स्वर या फिर इन्स्पेक्टर साहब के यहाँ जमे हुए दो-चार अफ़सर या बाबू लोगों की ताश खेलते समय की नीरस और बेकार हँसी की आवाज़....

जीवन क्या इस तरह व्यर्थ बिता देने के लिए है ?

मिसेज़ सेन उषा के पड़ोस में रहती थीं। आने के दो-तीन दिनों के पश्चात ही उषा ने अनुमान लगा लिया कि मिसेज़ सेन एक मिलनसार महिला हैं। बड़ी हँसमुख और सरल। हर किसी से मिल

लेती हैं। उनके घर में एस० डी० ओ० साहब की पत्नी से लेकर जैराम चपरासी की बीवी तक आती है। बाद में उषा को पता चला कि मिसेज़ सेन दस्तकारी में बड़ी माहिर हैं। उनके क्रोशिये के काम में बड़ी बारीकी होती है, बड़े सुन्दर-सुन्दर, नये डिज़ाइन के फूल-बेल वह काढ़ लेती हैं और उनसे यह सब सीखने के लिए औरतें उनके पास आती हैं।

पहले पन्द्रह दिनों में मिसेज़ सेन को अक्सर दरवाज़े पर खड़ी होकर अपनी ओर ताकती देखकर उषा के मन में आया कि वह भी परिचय बढ़ा ले। लेकिन वह प्रारम्भ से ही संकोची है। किसी से भी पहले मिल नहीं पाती। जब उषा दरवाज़े पर होती और मिसेज़ सेन के घर से तहसीलदार, ओवरसियर या सब-इन्सपेक्टर साहब की बीवी हाथ में कढ़ाई किये कपड़े व क्रोशिये लिये निकलतीं और उस समय जब मिसेज़ सेन अपने मेहमानों को दरवाज़े तक छोड़ने आतीं तो एक बार उषा की तरफ़ ज़रूर देखतीं और फिर मेहमानों में से एक-एक का नाम ले पुकार-पुकारकर नमस्ते करतीं और उनसे पुनः आने के लिए ऊँचे स्वर में बार-बार आग्रह करतीं। पर उषा प्रभावित न हो सकी। अपने संकोची स्वभाव को वह क्या करती, जिसके कारण इच्छा होते हुए भी वह मिसेज़ सेन से मिल नहीं पा रही थी। यद्यपि उसके पलंग की चादर के फूल पुराने डिज़ाइन के थे, मेज़पोश फटने लगा था, तिपाई के कवर पर के बेल उसे बचकाने-से लगने लगे थे और अब वह पिछले तीन महीनों से, पुराने डिज़ाइनों से ऊबकर बग़ैर फूल व बेल के सादे साये ही पहनने लगी थी, फिर भी वह मिसेज़ सेन के पास न जा सकी।

पर एक दिन मिसेज़ सेन ने स्वयं ही समस्या सुलझा दी। हुआ यह कि उषा अन्दर थी और तीन साल की सरला खेलती-खेलती सड़क

पर आ गयी थी। मिसेज़ सेन के यहाँ उस दिन शायद मेहमान नहीं आये थे और कदाचित उनकी प्रतीक्षा में ही मिसेज़ सेन दरवाज़े पर खड़ी थीं। सरला सड़क पर दिखी तो दूसरे ही पल मिसेज़ सेन उषा के दरवाज़े पर थीं। उषा तब गीले बालों में तौलिया लपेटे एक मासिक पत्र के पन्ने उलट रही थी। सहसा मिसेज़ सेन ने मुस्कराकर सरला को गोद से उतारा और उसे उषा की ओर बढ़ाती हुई बोलीं, "सरला को सड़क पर छोड़ने से तो अच्छा है कि आप इसे मुझे दे दें।"

पहली ही भेंट में मिसेज़ सेन का अपनत्व-भरा व्यंग्य उषा को अच्छा लगा।

फिर उषा को दरवाज़े पर खड़े रहने की आवश्यकता नहीं हुई। सरला भी सड़क पर नहीं आयी। मिसेज़ सेन अपने मेहमानों को दरवाज़े तक छोड़ने अवश्य आयीं, लेकिन उन्होंने न तो पुकारकर किसी को नमस्कार किया, न ही ऊँचे स्वर में उनसे पुनः आने के लिए आग्रह किया।....और उषा के सायों में बेल-बूटे कढ़ गये। पलंग की चादर में नये डिज़ाइन के फूल सजने लगे, तिपाई का कवर बदल दिया गया और मेज़पोश नया आ गया।

उसके पश्चात मेहमानों को दिया जाने वाला मिसेज़ सेन का सारा समय उषा के पास ही बीतने लगा। मिसेज़ सेन अक्सर दोपहर को आ जातीं और सिलाई-कढ़ाई के अलावा दुख-सुख की बातें भी करतीं। परिचय के तीन दिनों बाद ही अपने विषय में उन्होंने सभी-कुछ बता डाला कि वे एक पैसे वाले की लड़की हैं, पाकिस्तान बनने के पहले ढाका में उनके पिता की कितनी बड़ी दुकान थी, वे लोग कैसे मकान में रहते थे, कितना सुख था, कितने नौकर-चाकर थे और कैसी प्रतिष्ठा थी, उनकी शिक्षा कैसे हुई और दस्तकारी सिखाने के लिए

उनके पिता ने कितने पैसे खर्च किये। बँटवारे के बाद कितनी मार-काट मची और मुसलमानों ने कितने अत्याचार किये, उन लोगों पर कैसी-कैसी मुसीबतें आयीं, कैसे वे बे-घर-बार हो गये और हज़ारों की जायजाद चली गयी, उनके छोटे भाई की शिक्षा कैसे अधूरी रह गयी, वह कैसे और क्यों आवारा हो गया और बीड़ी पीने लगा और मिसेज़ सेन के पहले ही, जबकि उनका छोटा भाई अठारह का ही था और वे बीस बरस की थीं, क्यों उसकी शादी कर दी गयी आदि, आदि।

उन बातों का सिलसिला जल्द ही समाप्त हो गया तो मिसेज़ सेन के आगे वर्तमान के चित्र आये। मिसेज़ सेन एक सत्ताइस साल की युवती हैं। उनके पति कुमार सेन एक दफ़्तर में क्लर्क हैं और उन्हें ८५ रु० वेतन मिलता है। मिसेज़ सेन के विपरीत ही कुमार सेन एक संकोची स्वभाव के सीधे-सादे आदमी हैं। अधिक बातें न करना, पर सदैव ही हँसते रहना उनका स्वभाव है। विरोधी स्वभाव के होने पर भी दोनों में काफ़ी प्रेम है और ब्याह के चार बरसों के बीच एक बार भी आपस में मनमुटाव नहीं हुआ। पर मिसेज़ सेन सन्तुष्ट नहीं। कदाचित अपने पति का क्लर्क कहलाया जाना और स्वयं को एक बाबू की पत्नी के नाम से याद किया जाना उन्हें बहुत ही खलता है। इसीलिए उन्होंने कई बार यह बात बतायी कि कुमार सेन के तीन भाई हैं, जिनमें से एक शिमले में डाक्टर हैं, दूसरे कालेज में पढ़ते हैं और तीसरे वेटरनरी असिस्टेण्ट सर्जन हैं। मिसेज़ सेन अपने पति के भाग्य को लेकर बहुत खेद प्रकट करती रहतीं कि वे अकेले ही अपने खानदान में क्लर्क बनकर रह गये और वह भी एक जंगली तहसील में। इसी बात के सिलसिले में वह यह भी कह डालतीं कि आज-कल ईमानदारी का ज़माना नहीं रह गया। जो बेईमानी और खुशामद करता है, उसे ही उन्नति मिलती है और सीधे-सच्चे लोग जहाँ-के-तहाँ धरे पड़े रह

जाते हैं, वरना और क्या कारण हो सकता है कि कुमार सेन जैसे सीधे-सादे आदमी इन्टर पास करके भी क्लर्क ही बने रहें और ठाकुर, जिन्होंने पता नहीं मैट्रिक भी पास किया है अथवा नहीं, हेड-क्लर्क बन जायँ। फिर यह भी कि ठाकुर साहब सेन से कितना जलते हैं। उनकी बीबी मिसेज़ सेन से कैसे अभिमान से बातें करती है, कैसी घटिया क़िस्म की साड़ी पहनती है और अपने पति को क्या कहकर पुकारती है। उसके निचले दाँत काले क्यों पड़ गये हैं और कैसी बेहूदगी से वह सुर्ती फाँकती और थूकती है।

मिसेज़ सेन के क्वार्टर से लगा ही ठाकुर साहब का क्वार्टर था। वैसे तो वह पूरा एक ही क्वार्टर था, लेकिन मकान की कमी के कारण बीच से पार्टिशन करके बराबर-बराबर कमरे निकाल दिये गये थे। पार्टिशन होने पर भी, चाहने पर, दराज़ या सूराखों से इधर की चीज़ें उधर से और उधर की चीज़ें इधर से साफ़-साफ़ देखी जा सकती थीं।

ठाकुर साहब कदाचित निम्न वर्ग के ही रहे होंगे। उनकी पत्नी एक ऐसी स्त्री थी जो यदि देहाती नहीं तो यह निसन्देह ही कहा जा सकता था कि एक बिलकुल ही कम पढ़ी-लिखी, अशिष्ट औरत है, जिसमें देहातीपन अपेक्षाकृत कुछ अधिक है। मिसेज़ सेन को ठाकुर साहब से तो कम, लेकिन उनकी पत्नी से काफ़ी असन्तोष था कि वह सब्ज़ी बेचने वाली औरतों की तरह साड़ी बाँधती है, उसके पूरे जिस्म में देहाती ज़ेवर लदे रहते हैं, ब्लाउज़ कम पहनती है और उस पर तुर्रा यह कि किसी से भी पर्दा नहीं करती और स्नो-पाउडर लगाती है। सुबह हुई नहीं कि ढेर-से मैले-कुचैले, चीकट कपड़े लिये नदी पर अकेले ही चली जाती है। वहीं पास की झाड़ी से दातौन तोड़ती और आध घण्टे तक चबाती रहती है। मुँह धोना खत्म हुआ तो खुली जगह में घुटनों से भी ऊपर तक टाँगें खोले देर तक कपड़े पटकती और धोती

रहती है। उसके बाद कोई घण्टे भर तक डुबकियाँ लेकर तैर-तैरकर नहाती है और फिर गीली साड़ी बाँधे ही घर तक चली आती है, भले ही हरीश बाबू टहलते हों, कुमार सेन मुँह धोते हों या ओवरसियर साहब शेव करते हों। मिसेज़ सेन कुढ़कर कहती हैं, 'कैसी जंगली औरत है ! इसे तो हेड-क्लर्क की पत्नी की अपेक्षा किसी चपरासी की बीवी होना चाहिए था।'

नया-नया परिचय बढ़ाने, नयी मित्रता करने और घुल-मिल जाने में मिसेज़ सेन सचमुच ही माहिर थीं। किसी का ट्रान्सफ़र हुआ और उनकी जगह कोई नये महाशय आये तो मिसेज़ सेन इस मुराग़ में लगीं कि किस तरह परिचय कर लिया जाय। अगर आने वाले सज्जन अकेले हैं तो कुमार सेन से पता लगवायँगीं कि वे विवाहित हैं अथवा अविवाहित; यदि विवाहित हैं तो अपनी फ़ेमिली क्यों नहीं लाये और कब तक ले आयेंगे। और यदि वे महाशय मस्त निकले और फ़ेमिली लाने का नाम ही न लिया तो कुमार सेन द्वारा यह चेतावनी भी दिलवा देंगी कि इधर की आबोहवा कुछ अच्छी नहीं, अकेले रहना और होटल का खाना किसी भी दिन तन्दुरुस्ती ख़राब कर सकता है। क्यों मुफ़्त में परेशानी मोल लेने पर तुल गये हैं ! आदि।

नयी फ़ेमिली आने के पश्चात मिसेज़ सेन इस प्रयत्न में होंगी कि सबसे पहले वे परिचय कर लें और लोगों को चकित कर दें। कुमार से कहलाकर उन महाशय को, जिनकी पत्नी अथवा फ़ेमिली से परिचय करना होता है, अपने यहाँ किसी दिन भी चाय पर आमन्त्रित कर लेंगी। इसके पहले कि मिस्टर सेन चाय ले जाकर नये मित्र को पिलवायें, मिसेज़ सेन उन्हें अच्छी तरह समझाकर बार-बार याद दिला देंगी कि चाय के बाद वे उनकी फ़ेमिली की बात अवश्य छेड़ दें और अन्त में उनसे किसी दिन अपनी फ़ेमिली के साथ पुनः आने के लिए अवश्य

ही आग्रह करें ।

जिस दिन कोई नया परिचय होने को होता, उस दिन मिसेज़ सेन बहुत व्यस्त रहतीं । वैसे तो उन्होंने अपने कमरे को, जो एक साथ ही बेड-रूम, ड्राइंग-रूम और स्टोर रूम भी था, काफ़ी सजा रखा था, लेकिन उस दिन मेज़पोश बदल जाता, दरवाज़े के नीले पर्दे से रेक्सोना या लक्स की हल्की महक बिखरती, तिपाई पर एकाध (पुराना ही सही) समाचार-पत्र या कोई जासूसी उपन्यास आ जाता जिसके पास ही एश-ट्रे रखना भी मिसेज़ सेन नहीं भूलतीं, भले ही कुमार सेन सिगरेट न पीते हों । फिर चीनी की नयी-नयी दूध-सी प्लेटें निकलतीं और निकिल के चम्मच चमकते ।

स्वयं भी काफ़ी सजकर वे मुस्कराती हुई आने वाले मेहमान का स्वागत करतीं । फिर स्वभाव के अनुसार बात-बात पर हँसती हुई जंगली तहसील, वहाँ की बेजान फ़िज़ा, वहाँ के उजड्ड असभ्य लोगों, उनके ऊटपटाँग पहनावे और ऊल-जलूल खाद्य और आये दिन सुनी जाने वाली खून की खबरों के साथ-ही-साथ अपने शहर ढाका, उसके सौन्दर्य और वहाँ की मधुर-करुण स्मृतियों की चर्चा आरम्भ कर देतीं । चाय चाहे कितनी भी गर्म हो, वे प्लेट में नहीं ढालतीं । कप से पीना ही उन्हें अच्छा लगता, क्योंकि ठाकुर साहब की पत्नी प्लेट में चाय ढालकर ओंठों तक ले जाती है और सड़-सड़ के स्वर के साथ बड़े ज़ोर से खींचती है, उसके चाय पीने के स्वर में भी देहातीपन है ।

सिलाई-कढ़ाई की बात के बाद मिसेज़ सेन अपने घर आये मेहमान की पूरी जानकारी प्राप्त करने के लिए जी-जान से जुट जातीं और पूरे हालात मालूम करके रहतीं कि उनकी उम्र क्या है, वे कहाँ की रहने वाली हैं, कितनी अवस्था में ब्याह हुआ, उनके पति ने कहाँ तक शिक्षा ली है और उन्हें क्या वेतन मिलता है ।

किसी भी स्त्री से उसकी उम्र और पुरुष से उसका वेतन नहीं पूछना चाहिए, यह बात मिसेज़ सेन को अगर मालूम भी हो तो भी उन्होंने उस पर अमल करना कभी आवश्यक नहीं समझा। वेतन की बात पूछना तो वे भूल ही नहीं सकती थीं। कुछ लोग होते हैं, और विशेषकर स्त्रियाँ, जिन्हें अपने पति अथवा पिता के वेतन या आमदनी की बात बढ़ा-चढ़ाकर बताने में विशेष आनन्द आता है। मिसेज़ सेन उस समय तो चुपचाप ही सुन लेती. बाद में कुमार सेन से उस बात की सच्चाई के विषय में पूरी-पूरी जाँच करतीं। यदि किसी ने झूठा वेतन बताकर, शान बघारकर मिसेज़ सेन को प्रभावित करने की कोशिश की हो और उन्हें सच्चाई का पता चल जाता तो मिसेज़ सेन दोबारा उसके यहाँ अवश्य ही किसी-न-किसी बहाने जातीं और यह कहकर ही लौटतीं कि अमुक-अमुक दिन उससे उसने झूठी बात कही थी और उन्हें पता चल गया है।

किसके यहाँ कितना चावल, कितनी सब्ज़ी और कितनी रोटियाँ बनती हैं, यह सब मिसेज़ सेन जानतीं। मालूम करने के बहुत सारे तरीक़े थे। जैसे रेवेन्यू इन्सपेक्टर साहब के यहाँ बैठने जाना है तो मिसेज़ सेन अवकाश के समय न जाकर शाम का वक्त चुनेंगी। उस समय रेवेन्यू इन्सपेक्टर की पत्नी चावल बीनती, आटा गूँधती या साग काटती मिलेंगी। मिसेज़ सेन की निगाहें चावल के सूप पर, आटे के बर्तन पर या फिर आँगन में फैले शलजम, आलू के छिलके या लौकी के बीज पर पड़ेंगी और वे बड़ी नम्रता से हँसकर कहेंगी, "क्यों, कोई मेहमान आये हैं क्या?"

रेवेन्यू इन्सपेक्टर साहब उत्तर प्रदेश के रहने वाले हैं। भाग्य का खेल कि यू० पी० से मध्य-प्रदेश, और वह भी बस्तर ज़िले के जंगली तहसील में पड़े हैं। साथ उनके पत्नी के अलावा बूढ़ी माँ है, शेष सारे

रिश्तेदार उनके अपने राज्य में हैं जिनसे साल-दो साल में वह स्वयं जाकर मिल आते हैं। उधर के लोग बस्तर का नाम सुनकर ही भय खाते हैं, भला वे क्या आ सकते हैं। रेवेन्यू इन्स्पेक्टर साहब की पत्नी आश्चर्य से कहती हैं, "नहीं तो, आप कैसे कह रही हैं?"

मिसेज़ सेन मुस्कराती हैं, "आपको इतना आटा एक साथ गूँधते देखकर ही पूछा था। आँगन में भाजी के छिलके तो बहुत सारे बिखरे हैं, जैसे कोई चार-पाँच लोगों के लिए साग बन रही हो।"

रेवेन्यू इन्सपेक्टर साहब की पत्नी हँसने लगती हैं, उनकी हँसी में हल्का-सा संकोच और झेंप है। मिसेज़ सेन कहती हैं, "मैं अभी कुछ भी नहीं कर पायी हूँ। शायद अँधेरा होने के बाद ही आग सुलगा सकूँगी। वैसे अपने-जैसे दो जनों के लिए चाहिए भी क्या? आध पाव चावल उबाले, दो चपातियाँ डालीं और थोड़ी-सी सब्ज़ी भून डाली। आपके यहाँ जितनी भाजी कटी है न, वह तो हमें दो जून के लिए काफ़ी है।"

उषा को मिसेज़ सेन ने यह बात बतायी तो उनकी यह बात उसे कुछ अच्छी न लगी। कोई अधिक खाता हो तो खाये, मिसेज़ सेन को चिन्ता करने की क्या आवश्यकता? उस समय तो उषा ने कुछ नहीं कहा, पर उसके दूसरे या तीसरे दिन अपने स्वभाव के अनुसार मिसेज़ सेन ने जब बताया कि ठाकुर की पत्नी, जो उनसे झूठ बोलती थी कि वह रात में एक पाव से अधिक चावल नहीं बनाती, रँगे-हाथों पकड़ी गयी, ठाकुर की पत्नी जब चावल पतीली में छोड़ने लगी तो उन्होंने दरवाज़े की दरार से देखा कि पतीली में लगभग आध सेर चावल था और उन्होंने कैसे वहीं से चिल्लाकर कह दिया, 'हाँ....हाँ! मैं देख रही हूँ, हमीं को बनाने चली थी....' और ठाकुर की पत्नी कैसे लज्जित होकर बहाने बनाने लगी तो उषा ने झल्लाकर उन्हें टोक दिया।

उसी दिन शाम को अनायास ही उषा को मिसेज़ सेन के घर जाना पड़ा। मिसेज़ सेन उस समय चौके में थीं और सामने ही बर्तन में कुछ सब्ज़ी कटी धरी थी। बेवक्त उषा को अपने यहाँ देख मिसेज़ सेन को आश्चर्य तो हुआ, किन्तु वे असमय आने का कारण पूछे बिना ही, उषा के बैठने के लिए चटाई सरकाती बोलीं, "रसोई कर रही थी। देखिए न, मुझे इतनी भाजी ही ज़्यादा लग रही है। सोच रही हूँ कि काट तो ली है, पर कैसे बनाऊँ?"

उषा को हँसी आ गयी। उसने तो भाजी के विषय में कुछ कहा ही नहीं था। फिर मिसेज़ सेन का अपनी ओर से स्वयं ही सफ़ाई देना क्या उनकी सन्देह-शील प्रवृति का परिचायक नहीं?

तीसरे दिन मिसेज़ सेन ने बताया कि ओवरसियर की विधवा भाभी जो अभी मुश्किल से तीस की होगी, जिसके चेहरे का रंग अच्छा है, नाक-नक्शा भी सुन्दर है और विधवा होने पर भी नफ़ीस रंगीन व रेशमी साड़ियाँ पहनती है, हमेशा दरवाज़े पर खड़ी रहती है और बहुत हँसती है, उनसे कैसे पराजित हो गयी। एक दिन मिसेज़ सेन उनके यहाँ बैठने गयी थीं। बातचीत के बीच में ही चेहरे पर उग आने वाले कील तथा उसे दूर करने के उपायों पर चर्चा चल पड़ी। ओवरसियर की भाभी ने कदाचित अपने वैद्यक के ज्ञान का प्रमाण देने के लिए एक नुस्खा बताया और अपने स्वयं का अनुभव सुना डाला कि उसकी छोटी बहन, जो बिलासपुर में रहती है, उसके चेहरे पर कीलों के बेशुमार दाग़ थे, अब उसी नुस्खे से उसका चेहरा फिर से साफ़ और बेदाग़ हो गया है।

मिसेज़ सेन को विश्वास हुआ या नहीं हुआ, पर उन्होंने प्रतिवाद नहीं किया। उसके थोड़े दिनों के पश्चात ही मिसेज़ सेन को बिलासपुर जाने का अवसर मिला और उन्होंने किसी तरह समय निकाला,

उसकी बहन के मकान का पता लगवाया और उससे मिल ही आयीं। मिलने का उद्देश्य जो भी रहा हो, किन्तु मिसेज़ सेन ने उससे अपने और उसकी बहन के सम्बन्ध, प्रेम-भाव, मेल-मिलाप आदि की चर्चा के पश्चात पूछ ही तो लिया, "वह तो कह रही थी कि आपके चेहरे के कील के दाग़ साफ़ हो गये। शायद कोई नुस्खा उन्होंने ही बताया था।"

"नहीं तो," उसने कहा, "मैं तो कोई इलाज ही नहीं करती। दाग़ उठते हैं, मिटते हैं। कहाँ तक उनके लिए परेशान हुआ जाय।"

मिसेज़ सेन को बहुत बुरा लगा। ओवरसियर की भाभी ने उन्हें क्या मूर्ख समझ रखा था? झूठी कहीं की! वह समझती होगी कि उसने मिसेज़ सेन को उल्लू बना दिया। मिसेज़ सेन को यह बात असह्य लगी। जब वे बिलासपुर से लौटीं तो उन्होंने ओवरसियर की भाभी से स्पष्ट ही कह दिया कि वे उसकी छोटी बहन को देख आयी हैं, उसका चेहरा तो अभी भी दाग़ों के भरा हुआ है। फिर क्या था, ओवरसियर की भाभी झेंप गयीं। संकोच मिटाने के लिए हँसने लगी। फिर उसने कहा, "वह नुस्खा मैंने किसी पत्रिका में पढ़ा था।"

जब मिसेज़ सेन कोई नयी बात बताने को होतीं तो उनका चेहरा खिल जाता, आँखें चमकने लगतीं, स्वर में जीत की खुशी झलकने लगती, उनसे ओंठ दोनों तरफ़ थोड़े-थोड़े खिंच उठते और वे बड़ी जल्दी-जल्दी पलकें झपकाती हँसने लगतीं, पर आज उषा ने देखा, मिसेज़ सेन का चेहरा उतरा हुआ है, स्वर का उल्लास मुरझाया है और आँखें जैसे बुझी-बुझी-सी हैं। टूटते-से स्वर में उन्होंने पूछा था, "अरे हाँ, एक बात सुनी क्या?"

उषा ने मिसेज़ सेन की ओर देखा, आज अनायास ही स्वर में

इतनी उदासी क्यों है ? मिसेज़ सेन कौन-सी बात कहना चाहती हैं ? उसने जैसे चौंककर कहा, "आप क्या कह रही थीं ?"

मिसेज़ सेन की आँखें फैली-सी थीं। दो दिनों के बाद आज धूप निकली थी। कल सारी रात बारिश होती रही। सुबह तक मानसूनी बादल सुरमई कफ़न लपेटे ठहरे रहे, लेकिन अब सुनहरी धूप में सागौन तथा शीशम के धुले-नहाये जिस्म और साफ़-सुथरी पत्तियाँ चमक रही थीं। पास ही छोटी पहाड़ी का सिरा स्लेटी रंग के सरक-से रहे विरले बादलों की परत ओढ़ खुल-मुँद रहा था। उस सन्नाटे में एक ही स्वर दूर-दूर तक फैल रहा था, वही पहाड़ी नदी का।....

मिसेज़ सेन बोलीं, "डाक्टर सतीश अपनी नव-विवाहिता पत्नी के साथ लौट आये हैं। अपने ब्याह के लिए ही वे गये थे।"

उषा को यह बात दिलचस्पी या उत्सुकता से सुनने लायक नहीं लगी। मिसेज़ सेन थोड़ी देर चुप रहीं, फिर हल्के-से मुस्कराकर बोलीं, "सुनती हूँ, सतीश बड़ी सुन्दर लड़की ब्याह लाये हैं।"

आप डाक्टर साहब का नाम कैसे बेझिझक ले लेती हैं ?" उषा ने पूछा तो मिसेज़ सेन ने क्षण-काल के लिए अपने चेहरे पर जमी उषा की आँखों पर पलक रोककर बाहर देखा, फिर सूखे स्वर में बोलीं, "सतीश को मैं बचपन से जानती हूँ, वह मुझसे एक बरस छोटा है और मेरे ही शहर का है।"

उषा ने फिर चाहने पर भी नहीं पूछा कि परिचय के इतने दिनों में अकेली यही बात उन्होंने क्यों छिपा रखी थी कि डाक्टर सतीश को वे बचपन से जानती हैं और वे उनके ही शहर के हैं। इसके पहले भी तो कई बार डाक्टर की चर्चा मिसेज़ सेन कर चुकी थीं। उनकी उस बात में झूठी उत्सुकता दिखाने के लिए उषा ने उनसे आग्रह किया कि सतीश की नयी पत्नी से मिलने अवश्य ही चला जाय। मिसेज़ सेन

कुछ बोलीं नहीं, केवल हँसी और उठ खड़ी हुईं।

दोपहर की ढल रही धूप अब पीली हो गयी थी। सामने के शीशम की घनी लम्बी छाँव सिमटकर छोटी हो गयी। दूर घने कोहरे से ऊँघती पहाड़ी के श्वेत बादलों के पास से चमगादड़ों की एक क़तार शुरू होकर चली आ रही थी। आसमान में जैसे तिरती एक काली रेखा सरकती, फैलती बढ़ी आ रही हो।

दरवाज़े तक आकर, पैरों में चप्पलें डालतीं मिसेज़ सेन ने सूखे स्वर में कहा, "ब्याह का सुख बबूल की छाँव है, उषा, पतली, विरली और कँटीली, जिसमें कोई ठहराव नहीं। यह अलग बात है कि उसकी चुभन को ही ठण्डक जानकर हम सन्तोष मान लेते हैं।"

उषा कुछ नहीं बोली। मिसेज़ सेन का गोरा रंग धूप में तमतमा रहा था, नाक की कील साफ़ दिख रही थी और कान के बुन्दे चमक रहे थे।

जब वे सीढ़ियाँ उतरकर सामने की सड़क पर आयीं तो बड़ी देर तक उषा मिसेज़ सेन को देखती रही। आज जैसे पहली बार उसे ध्यान आया कि मिसेज़ सेन के चेहरे का रंग गोरा है, ओंठ अच्छे हैं, देह मांसल है और वे सुन्दर हैं।

तब धूप की रेशमी किरणें सूरजमुखी की पाँखुरी की ज़र्दी चुराकर शीशम के पत्तों पर नाच रही थीं।

*

उसके बाद लगभग एक सप्ताह तक मिसेज़ सेन फिर नहीं आयीं। परिचय के पश्चात् कदाचित् यह पहला अवसर था, जब मिसेज़ सेन इतने लम्बे समय के लिए उषा से बिना मिले ही रह गयीं, यद्यपि इस बीच बहुत सारी घटनाएँ घट गयी थीं और बड़ी अजीब बातें सुनने में

आयी थीं—इन्सपेक्टर साहब की लड़की नदी में डूबने जा रही थी, किसने बचाया और अब वह घर से बाहर क्यों नहीं निकलती। तहसीली के क्लर्क मिश्रा की पत्नी की सोने की चूड़ी, जो पिछले दिनों खो गयी थी, किसकी कलाई में देखी गयी और फिर क्या हुआ। ओवरसियर के बच्चों को पढ़ाने वाले अविवाहित शिक्षक बोस, जो कुछ महीनों से ही आये हैं, स्कूल का मेस छोड़कर क्यों ओवरसियर के यहाँ खाने लगे, दिन के कितने घण्टे वे वहाँ बिताते थे और किसने ओवरसियर की भाभी को बोस बाबू के साथ पलंग पर बैठकर उनका सिर दबाते हुए देखा और ओवरसियर साहब जान-बूझकर भी क्यों अनजान बने हुए हैं।

दो दिन और बीत जाने के पश्चात् उषा स्वयं तो नहीं जा सकी, किन्तु मिसेज़ सेन को बुलवा लिया। जब मिसेज़ सेन आयीं, उस समय उषा सरला की फ्रॉक बदल रही थी। आहट पाकर वह बाहर आयी। मिसेज़ सेन मुस्कराती खड़ी थीं। हँसकर उषा बोली, "अपने को न रोक पाकर बुलवा ही लिया, यह सोचे बिना ही कि आप जाने किस काम में बझी हों। बुरा तो नहीं माना?"

"भला बुरा क्यो मानूँगी, बताइए तो!" मिसेज़ सेन हँसती हुई बैठ गयीं।

उषा की आँखें मिसेज़ सेन पर थम गयीं। आज वे कितनी मामूली और हल्की साड़ी पहने थीं। बाल ऐसे सँवारे हुए हैं, उन्हें देखकर कोई भी कह सकता था कि जल्दी-जल्दी में उन्होंने बालों पर कंघी फेर भर ली है। चेहरे की केवड़ई गोराई मुरझाकर पीली पड़ गयी है। बार-बार हँस उठने वाला स्वर कहाँ है?

उषा बोली, "देखती हूँ, आपकी तबीयत शायद ठीक नहीं।"

मिसेज़ सेन ने मुँह फेर लिया और थोड़ी देर तक बाहर देखती

रहीं। फिर मुस्कराने का प्रयत्न करती, कोमल स्वर में बोलीं, "पिछले कुछ दिनों से जी अच्छा नहीं है।" और वह चुप हो गयीं।

और कोई बात नहीं। केवल नीरवता की घुटन भरी साँस।

सहसा मिसेज़ सेन की पलकें भीग उठीं, उनके ओंठ काँपने लगे और निचला ओंठ दाँतों तले सरककर दब गया। जल्दी-जल्दी पलकें झपकाती, जैसे खींचते स्वर में उन्होंने कहा, "और लोगों की बात मैं नहीं कहती, लेकिन तुम्हारे आगे झूठ कहकर टाल देने की सकत मुझमें नहीं, यह मैं अच्छी तरह समझ चुकी हूँ।" मिसेज़ सेन कुछ पलों के लिए चुप हो गयीं और फिर बोलीं, "कल तक मेरे जिस रूप को तुमने देखा था, वह पति का अत्यधिक प्यार व दुलार पाकर फूल उठी उल्लासमयी नारी का चित्र था। कुमार का प्यार अपनी सीमा पर पहुँचकर अनायास ही घृणा की ओर लौट पड़ेगा, यह मैं अनुमान भी नहीं कर सकती थी। तुम क्या कहती हो, उषा? मैं झूठी शान और ऊपरी तड़क-भड़क की लालसा में क्या इतनी डूब गयी हूँ? वे कहते हैं कि मैं उन्हें हेय समझने लगी हूँ और....और डाक्टर सतीश की ओर खिंच रही हूँ...."

उषा कुछ भी जवाब नहीं दे पायी। वह केवल मिसेज़ सेन को ताकती रही, गीली बरौनियाँ, लरज़तीं पलकें, पीले गालों पर आँसू की मोटी लकीरें, हिलते काँपते, ओंठ........

"सतीश को लेकर जो इतनी बड़ी शंका इन्होंने मुझ पर कर डाली है, वह क्या योंही टाली जा सकती है? मैं जानती हूँ कि अपनी ओर से मैं कोई भी सफ़ाई नहीं दे सकूँगी, पर इतना धैर्य मुझमें नहीं कि एक घर और एक कमरे में रहते वे दो-दो हफ्ते मुझसे बात भी न करें और मैं चुप रहूँ। और उषा, तुम क्या यह सह सकोगी कि तुम्हारा छुआ खाना पाप समझ लिया जाय?"

उमस....घुटन....कई घण्टों से घिर आये बादल सहसा भहराकर बरस पड़े। पहाड़ी नदी का स्वर बरसात के शोर में घुलने लगा और उस कमरे में एक ही स्वर गूँज रहा था—सागौन के चौड़े-चौड़े पत्तों पर बारिश की भारी-भारी बूँदों के सह लेने की दबी-दबी कराह !

उस स्वर को काटती उषा की आवाज़ आयी—स्नेह, सहानुभूति और सान्त्वना के कुछ बोल की—जिससे मिसेज़ सेन के गालों की सूख गयी लकीरों के निशान गीले होकर और मोटे हो गये और मिसेज़ सेन चली गयीं।

*

अगली सुबह बादल घिरे, पर तेज़ हवा से कहीं उड़ गये और लगभग दस बजे दिन को सूरज की पहली किरण आयी। रात उषा ठीक से नहीं सो सकी थी, इसलिए तबीयत बड़ी अनमनी, अस्त-व्यस्त और बोझिल थी। अपना ढीला, थका-थका-सा जिस्म आराम-कुर्सी पर डाले उषा बड़ी देर तक आँखें मूँदें लेटी रही।

दोपहर को हरीश बाबू आये। उषा को उदास देखकर पूछा, "मिसेज़ सेन चली गयी क्या इसीलिए दुखी हो ?"

"कहाँ ?"

"अपने घर। सेन कह रहे थे, उनकी तबीयत यहाँ ठीक नहीं रहती थी।"

उषा थोड़ी देर तक वहीं जमी-सी रह गयी। दरवाज़े पर आकर देखा, आज मिसेज़ सेन का कमरा बन्द था और बाहर ताला लटक रहा था। शायद कुमार सेन दफ़्तर गये होंगे....

जाने क्यों उषा का हृदय भीगने-सा लगा। अधिक देर तक उस ओर नहीं देख सकी।

ब्याह का सुख—बबूल की छाँव, पतली-विरली और कँटीली....

रीते बादलों के दो-तीन टुकड़े नदी के पार सरक रहे थे। धूप तेज़ हो गयी थी। सामने शीशम के मोटे तने की छाँव घनी थी, मोटी थी और ठण्डी भी, जिसमें बगुलों के टेढ़े-उजले पंख चमक रहे थे।....

* * *